साहित्य

गोपीनाथ कविराज

गोविन्दचन्द्र पांडे

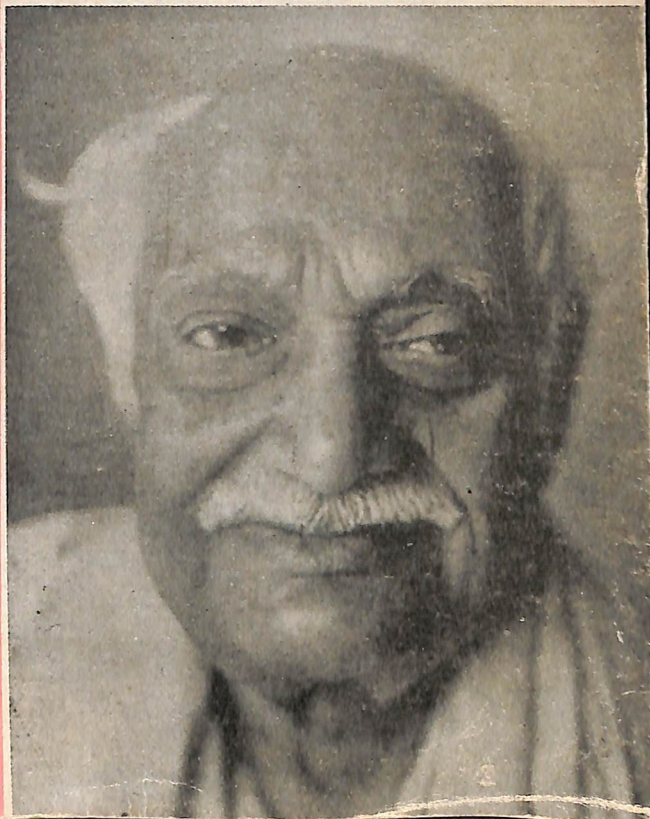

भारतीय
साहित्य के
निर्माता

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ–रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं । इसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का सम्भवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुनकोण्डा, दूसरी सदी ईसवी
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

64

भारतीय साहित्य के निर्माता

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज

लेखक
गोविन्दचन्द्र पांडे

अनुवादिका
सुशीला डोभाल

साहित्य अकादेमी

Mahamahopadhyaya Gopinath Kaviraj : Hindi translation by Sushila Dobhal of Govind Chandra Pande's monograph in English. Sahitya Akademi, New Delhi (1993), Rs.15.

© साहित्य अकादेमी
प्रथम संस्करण : १९९३

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय
रवीन्द्र भवन, ३५, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नयी दिल्ली ११० ००१
विक्रय विभाग : स्वाति, मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली ११० ००१

क्षेत्रीय कार्यालय
जीवनतारा बिल्डिंग, चौथी मंज़िल, २३ए/४४ एक्स,
डायमंड हार्बर रोड, कलकत्ता ७०० ०५३
३०४-३०५, अन्ना सलाई, तेनामपेट, मद्रास ६०० ०१८
१७२, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, बम्बई ४०० ०१४
ए. डी. ए. रंगमन्दिर, १०९, जे. सी. मार्ग, बंगलौर ५६० ००२

मूल्य : पन्द्रह रुपये

ISBN 81-7201-471-6

टाइपसेटिंग : राजधानी कम्प्यूट्रोनिक्स प्रा. लि., दिल्ली ११० ००७

मुद्रक : सुपर प्रिन्टर्स, दिल्ली ११० ०५१

विषय-सूची

	आमुख	५
१.	जीवन और व्यक्तित्व	९
२.	भारतीय दर्शन : कविराज की अनुसंधान यात्रा	१७
३.	दार्शनिक अन्वेषण का स्वरूप और गठन	४१
४.	योग विद्या	५५
५.	तंत्र : सिद्धान्त और साधना	६६
६.	भारतीय संस्कृति का अर्थ	७८
	टिप्पणियाँ	८८
	ग्रंथ-सूची	९४
	पारिभाषिक शब्दों की अनुक्रमणिका	९६

आमुख

साहित्य अकादेमी के आदेश से गोपीनाथ कविराज पर एक छोटा विनिबंध प्रस्तुत करने का कार्य स्वीकार कर लेने के पश्चात् मैं लंबे समय तक इस गुरु कार्य को आरंभ करने का साहस नहीं जुटा पाया। यह सर्वविदित है कि कविराज के ज्ञान की विशालता, उनके चिंतन की गहराई, उनकी कसी हुई शैली की दुरूहता एवं उनके उदात्त व्यक्तित्व के कारण उनके जीवन, चिंतन एवं लेखन का संतोषजनक विवरण प्रस्तुत करना सरल कार्य नहीं है। ऐसा विवरण प्रस्तुत करना, और वह भी थोड़े समय के भीतर, लगभग असंभव प्रतीत होता था। ऐसी स्थिति में कविराज की कृपा में अपनी आस्था के सहारे ही अपना प्रयास जारी रख सका। वे न केवल मेरे परमगुरु थे, अपितु उच्चकोटि के संत भी थे जिनके साहचर्य का सौभाग्य मुझे समय-समय पर मिलता रहा था।

फिर भी, कविराज के सम्बन्ध में जो कुछ मैं पाठकों के सम्मुख रखने जा रहा हूँ उसके सर्वांग संपूर्ण होने का दावा नहीं कर सकता। आम पाठक और विद्वान के लिए कविराज के दुर्बोध होने का कारण उनके चिन्तन व शैली की दुरूहता ही नहीं है, अपितु यह तथ्य भी कि उनकी रचनाएं एवं वार्ताएं आंशिक रूप से ही प्रकाशित हुई हैं और सर्वसुलभ नहीं हैं। कविराज के सम्बन्ध में शोध आज जिस स्थिति में है, उसे देखते हुए उनके सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से कुछ भी लिखना अत्यंत कठिन है। इस दृष्टि से सर्वाधिक कठिनाई 'अखंड महायोग' की चर्चा करने में उपस्थित हुई है। इस सम्बन्ध में जो भी विवरण मैंने प्रस्तुत किया है, उसका आधार प्रमुख रूप से कविराज की बाङ्ला रचना **अखण्ड महायोग** रहा है, यद्यपि मैंने उनकी बाद की व्याख्याओं को भी देखा है।

ऐसी स्थिति में कविराज के विचारों का जो विवरण मैंने प्रस्तुत किया है, उसका अपूर्ण होना स्वाभाविक ही है। मैंने उनके कतिपय महत्त्वपूर्ण विचारों को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखने का प्रयास मात्र किया है, जिससे उनकी समकालीन प्रासंगिकता को उजागर किया जा सके। यदि मेरा यह प्रयास थोड़े से पाठकों को भी कविराज की रचनाओं का अध्ययन करने में प्रवृत्त कर सके तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूंगा।

कविराज के जीवन वृत्तांत को मैंने संक्षिप्त रख कर ही संतोष कर लिया है। जो पाठक इस सम्बन्ध में अधिक जानना चाहें वे डॉ. वी. पी. सिंह की हिन्दी पुस्तक

से लाभान्वित हो सकते हैं। वस्तुतः कविराज का जीवन आध्यात्मिक अभियानों से इतना पूर्ण था कि बाह्य सामाजिक अभियानों के लिए उसमें विशेष स्थान नहीं रह गया था।

लोकेषणाएं उन्हें छू भी नहीं गई थीं, और सासांरिक कष्टों का सामना वे जिस धैर्य से करते थे, वह विरल है।

मैं साहित्य अकादेमी के प्रति आभारी हूँ कि उन्होंने मुझे इस कार्य में प्रवृत्त किया।

पाठकों के समक्ष इस पुस्तिका को रखते हुए मैं इसकी त्रुटियों के लिए अग्रिम क्षमा-याचना करता हूँ।

'नचात्रातीव कर्त्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः'

— गोविन्दचन्द्र पांडे

१

जीवन और व्यक्तित्व

मध्ययुग के दौरान बंगाल, विशेष रूप से पूर्वी बंगाल (आज का बांग्ला देश), अपने भक्ति आंदोलन, रहस्यवाद और पांडित्यवाद के लिए सुविख्यात था। इस प्रदेश ने उन्नीसवीं शती में होने वाले भारतीय पुनर्जागरण में अग्रणी भूमिका निभाई और संतों, मनीषियों, विद्वानों, शिक्षा-शास्त्रियों, राजनीतिज्ञों एवं क्रांतिकारियों की एक समूची पीढ़ी को जन्म दिया। उपनिवेशी शासन और उससे जुड़ी हुई भारतीयों के मूलोच्छेद की प्रक्रिया के मध्य उन्होंने भारत के विगत गौरव की भावना को जागृत करने और उसे बिट्रिश उदारवाद के सर्वोत्तम पक्षों एवं मानव एकता की गहन अनुभूति से जोड़ने का प्रयास किया। इन्हीं लोगों, और देश के अन्य भागों में सक्रिय इन्हीं जैसे अन्य लोगों, ने भारत की नई राष्ट्रीय उदार-चेतना को गढ़ा। इसका लक्ष्य न केवल देश की स्वाधीनता के लिए राजनीतिक आंदोलन चलाना था अपितु यहाँ के चिन्तन एवं सृजनशीलता में भी क्रांति लाना था। गोपीनाथ कविराज इस क्रांति के एक स्तंभ थे।

उनका जन्म बांग्ला देश के धमराई नामक स्थान में ७ सितंबर, १८८७ को हुआ था। उनके जन्म से पाँच महीने पूर्व ही उनके पिता श्री वैकुठंनाथ स्वर्गवासी हो गए। उस समय वे एम. ए. की परीक्षा की तैयारी कर रहे थे। वैकुंठनाथ अत्यंत प्रतिभाशाली छात्र थे। वे नरेंद्रनाथ (बाद में विवेकानंद) और बृजेंद्रनाथ सील के सहपाठी थे। स्वयं वैकुंठनाथ ने भी बचपन में ही अपने पिता को खो दिया था और उनका लालन-पालन उनके स्नेही मामा श्री कलाचंद्र सान्याल ने किया था। मामा का गाँव कंथालिया कविराज और पैतृक ग्राम दान्या के निकट ही था जो मैमनसिंह जिले में पड़ता था और आज बांग्ला देश में है। बालक गोपीनाथ के लालन-पालन का दायित्व भी श्री कलाचंद्र के ही कंधों पर पड़ा। गोपीनाथ की माता सुखदा सुंदरी और मातामही समान बामा सुंदरी ने उन्हें भरपूर मातृ-स्नेह प्रदान किया। उनका लालन-पालन वैष्णव भक्ति, चारित्रिक सरलता और उच्चकोटि की संस्कृत विद्वत्ता के वातावरण में हुआ।

उनकी आरंभिक शिक्षा कंथालिया की प्राथमिक पाठशाला में हुई। बाद में वे धमराई चले आए जहाँ उन्होंने आठवीं कक्षा तक पढ़ाई की। कंथालिया में रहते हुए ही उनकी पारंपरिक संस्कृत शिक्षा आरंभ हो चुकी थी। जिसे उन्होंने धमराई में भी सुयोग्य पंडितों के मार्गदर्शन में श्रमपूर्वक जारी रखा। उन्होंने अंग्रेज़ी का अध्ययन भी

बड़े उत्साहपूर्वक किया और आठवीं कक्षा तक पहुँचते-पहुँचते उन्होंने इस भाषा की शब्दावली का प्रचुर ज्ञान प्राप्त कर लिया। भाषा पर अच्छा अधिकार होने के कारण वे संस्कृत, बांग्ला, और अंग्रेज़ी साहित्य का सुगमता से अध्ययन कर लेते थे, यहाँ तक कि उन्होंने बांग्ला और अंग्रेज़ी में कविता भी की जिसका रुझान न्यूनाधिक रूप से रूमानी था। उनके चिंतन में आत्मा की एकाकी खोज का कथ्य तभी उभर कर सामने आने लगा था। "जीवन की धारा में अकेला मैं खिवैया।" "तारक द्युति में अकेला देखता चहुं ओर मैं।"

धमराई से गोपीनाथ ढाका आए जहाँ आठवीं कक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् वे के. एल. जुबिली हाई स्कूल में भरती हुए। इस बीच कलाचंद्र सान्याल के निधन से उनके परिवार पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। परिवार की संपत्ति भी अन्य कुटुंबी जनों ने हड़प ली। उनकी माता गोपीनाथ की युवा पत्नी अपनी पुत्रवधू कुसुम कामिनी देवी के चाचा पं. कार्तिकशंकर के यहाँ चली गईं। मित्रों और शुभचिंतकों के प्रयासों से गोपीनाथ को एक छात्रवृत्ति मिल गई जिससे वे ढाका में अपना अध्ययन जारी रख सके। उन्होंने अंग्रेज़ी के साथ ही संस्कृत का भी बड़े चाव से अध्ययन किया और १९०५ में प्रथम श्रेणी में इंटर की परीक्षा उत्तीर्ण की। स्वास्थ्य खराब हो जाने के कारण उन्हें एक वर्ष के लिए अध्ययन छोड़ना पड़ा। तत्पश्चात् वे जयपुर आ गए और महाराजा कालेज में भर्ती हुए जहाँ सम्मान सूची में उनका नाम आज भी लगा हुआ है।

आर्थिक समस्या ने उनका पीछा यहाँ भी नहीं छोड़ा, किन्तु जयपुर के तत्कालीन दीवान संसारचंद्र सेन एवं उनके पुत्र अविनाशचंद्र सेन की सहायता से इसका समाधान हो गया। गोपीनाथ अविनाश बाबू के पुत्रों को पढ़ा दिया करते थे। बदले में उनके रहने-खाने की व्यवस्था हो जाती थी। एक अन्य छात्रवृत्ति एवं मित्रों की सहायता से उनके अन्य व्यय पूरे होते थे। वे चार वर्ष जयपुर में रहे और १९१० में उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्नातक परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की और विश्वविद्यालय में अत्यंत ऊँचा स्थान प्राप्त किया। उस समय के लिए यह एक विरल उपलब्धि थी जिस पर किसी को भी गर्व हो सकता था।

यद्यपि इन वर्षों में वे मुख्यतः साहित्यिक अन्वेषण में ही व्यस्त रहे, तथापि राष्ट्रीयता की प्रचंड लहर से भी गोपीनाथ अछूते न रह सके जो उस समय समूचे देश के उद्वेलित कर रही थी। बंग-भंग के कारण बंगाल में हलचल मची हुई थी और वहाँ एक क्रांतिकारी आंदोलन जन्म ले रहा था। गोपीनाथ श्री अरविंदो के **वंदे मातरम्** के नियमित पाठक थे और अपने मित्रों के साथ राजनीति की चर्चा किया करते थे। उन्होंने १९०६ में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में राजस्थान के प्रतिनिधि के रूप में भाग

भी लिया था। तथापि, मुख्यतः साहित्यिक एवं बौद्धिक रुचियों के कारण, और इस तथ्य के कारण भी कि वे जयपुर दीवान के घराने से जुड़े हुए थे, वे राजनीति में अधिक सक्रिय नहीं हो सके। भारत के अतीत की खोज युवा गोपीनाथ के बौद्धिक अभियान का महत्त्वपूर्ण हिस्सा हो गई। अत्यंत तीव्र होने पर भी उनकी खोज का स्वरूप संकीर्ण नहीं था। भारत के अतीत के अध्ययन के साथ विश्व साहित्य का अध्ययन भी चलता रहा। जयपुर में बिताए गए वर्षों का उनके व्यक्तित्व निर्माण में बड़ा गहरा हाथ रहा और पचास वर्ष बाद भी वे इन वर्षों को बड़े चाव से याद किया करते थे।

स्नातक हो जाने के पश्चात गोपीनाथ ने वाराणसी जाकर क्वींस कालेज में आगे अध्ययन करने का निश्चय किया। उस समय वहाँ के प्राचार्य डा. वेनिस थे। गोपीनाथ ने संस्कृत के स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में प्रवेश लिया और अंतिम वर्ष में पुरालेख शास्त्र विषय चुना। साथ ही वे वामाचरण भट्टाचार्य से नव्यन्याय और प्रो. नॉर्मन से पाली, फ्रेंच एवं जर्मन भी सीखते थे। डा. वेनिस पुरालेखशास्त्र पढ़ाते थे और गोपीनाथ उनके अत्यंत प्रिय शिष्य रहे। पूर्वार्ध परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् स्वास्थ्य खराब होने के कारण उन्हें एक वर्ष के लिए अध्ययन छोड़ना पड़ा। १९१२ में पुनः उन्होंने अपना अध्ययन आरंभ किया और १९१३ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से संस्कृत की स्नातकोत्तर परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की जिसमें उन्हें रिकार्ड अंक प्राप्त हुए। उन दिनों इलाहाबाद विश्वविद्यालय से संस्कृत की स्नातकोत्तर परीक्षा में प्रथम श्रेणी प्राप्त करना अकल्पनीय था।

उन्हें ओरिएंटल कॉलेज, लाहौर और मेयो कॉलेज, अजमेर से नियुक्ति के निमंत्रण मिले किन्तु डा. वेनिस की सलाह पर गोपीनाथ ने वाराणसी में ही रहकर शोधकार्य करने का निश्चय किया। १९१४ में इस युवा पंडित को सरस्वती भवन पुस्तकालय का प्रभारी नियुक्त किया गया। वहाँ रहकर उन्होंने दुर्लभ पांडुलिपियों एवं उन पर आलोचनात्मक ग्रंथों के प्रकाशन का दायित्व संभाला। १९२४ में उन्हें शासकीय संस्कृत कॉलेज के प्रधानाचार्य के सम्मानित पद पर नियुक्त किया गया। इस पद को पहले स्वयं डा. वेनिस और उनके बाद डा. गंगानाथ झा ने सुशोभित किया था।

इस बीच गोपीनाथ कविराज के जीवन में धीरे-धीरे एक महान् परिवर्तन आता जा रहा था। वाराणसी में अपने मित्र शचींद्रनाथ सान्याल[1] के माध्यम से उनकी भेंट विलक्षण योगी शिवरामकिंकर योगत्रयानंद[2] से हुई जिनके सान्निध्य में वे अनेक वर्षों (१९११-१७) तक रहे। १९१४ के पश्चात् उनका अध्ययन अधिकाधिक रूप से रहस्यवाद और तान्त्रिक साहित्य पर केंद्रित होने लगा। १९१८ में डा. वेनिस की मृत्यु हुई और उसी वर्ष उन्होंने गंधबाबा के नाम से विख्यात श्री श्री विशुद्धानंद से दीक्षा ग्रहण कर ली। यहीं से उनके जीवन में महत्त्वपूर्ण मोड़ आया।[3] आध्यात्मिक दर्शन

एवं साहित्य धीरे-धीरे उनके अध्ययन का प्रमुख केंद्र बनते गए और वे इनके सैद्धांतिक अध्ययन से इनकी व्यावहारिक प्रयुक्ति में प्रवृत्त होने लगे। परिणामस्वरूप उन्हें अपने पद का भार असहनीय प्रतीत होने लगा और १९३७ में उन्होंने समय से पूर्व ही अवकाश ग्रहण कर लिया। श्री श्री विशुद्धानंद की मृत्यु भी इसी वर्ष हुई।

तब से लेकर १२ जून, १९७६ में मृत्यु-पर्यंत कविराज ने संत और मनीषी का जीवन व्यतीत किया और आध्यात्मिक जिज्ञासुओं, बुद्धि-जीवियों एवं विद्वानों का समान रूप से मार्गदर्शन करते रहे। वे सिग्रा, वाराणसी में अपने निवास स्थान पर रहते थे और जीवन के अंतिम दिन उन्होंने भदैनी[४] में माँ आनंदमयी के आश्रम में व्यतीत किए। वे अपने आप में एक संस्था थे। दूर दूर से विद्वज्जन और जिज्ञासु उनके पास आते थे। उनका समय बौद्धिक एवं आध्यात्मिक जीवन की साधना के प्रति समर्पित था। विश्वविद्यालयों, शैक्षिक संस्थाओं एवं केंद्र और राज्य सरकारों ने उन्हें अनेक प्रकार से सम्मानित किया, किन्तु वे इस सबसे उसी प्रकार निःस्पृह रहे जिस प्रकार कि वे अपने घेरलू जीवन[५] की उथल पुथल में रहे थे। वे वाराणसी से बाहर बहुत कम निकले और विश्वविद्यालयों एवं सरकार से मिलने वाले जिन आमंत्रणों के लिए अधिकांश विद्वान तरसते हैं, उन्हें कविराज ने कदाचित् ही स्वीकार किया हो। उन्होंने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय और कलकत्ता विश्वविद्यालय एवं संस्कृत विश्वविद्यालय में आचार्य पद के निमंत्रणों एवं बनारस में संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति पद को अस्वीकार किया जिसे उत्तर प्रदेश सरकार ने विशेष रूप से स्थापित किया था। अनेक विश्वविद्यालयों ने उन्हें मानद उपाधियों से सम्मानित किया किन्तु वे कभी उन्हें लेने नहीं गए। हाँ, उन्होंने लिखा बहुत और शोध छात्रों को मार्गदर्शन देने एवं उनके प्रयासों के मूल्यांकन का कार्य जारी रखा। उनका चार दशकों का सेवानिवृत्त जीवन सादा जीवन उच्च विचार के आदर्श का ज्वलंत उदाहरण था जिसमें परंपरा एवं आधुनिकता का, भारतीय और पाश्चात्य ज्ञान का, विद्वत्ता और आध्यात्मिक दृष्टि का अप्रतिम संयोग देखने को मिलता है।

जैसा कि पहले कहा गया है, कविराज ने बचपन से ही उच्चकोटि की सृजनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया था। विद्यार्थी जीवन में ही उन्होंने बांग्ला और अंग्रेज़ी में कविताएँ लिखी थीं जिनमें से कुछ प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हुई थीं। साहित्यिक समालोचना में उनकी रुचि शीघ्र ही उभर कर सामने आई और अंग्रेज़ी एवं बांग्ला के कवियों पर उनके आलोचनात्मक अध्ययन की शृंखला प्रमुख साहित्यिक पत्रिकाओं म प्रकाशित हुई। साहित्यिक आलोचना के ये निबंध कविराज की गहन दार्शनिक रुचि को दर्शाते हैं जिसके फलस्वरूप अंततः उन्होंने सौंदर्य शास्त्र में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। राष्ट्रीय आंदोलन के प्रभाव एवं इसकी अस्मिता की खोज और साथ

ही डा. वेनिस के संपर्क में आने से उनके भीतर आलोचनात्मक एवं इतिहास सम्बन्धी अध्ययन के प्रति रुचि जाग्रत हुई। साथ ही संस्कृत साहित्य एवं दर्शन ग्रंथों के उनके गहन अध्ययन के फलस्वरूप वे दो प्रसिद्ध शृंखलाएं निकालने में सफल रहे जिनके शीर्षक थे **द प्रिंसेस ऑफ वेल्स सरस्वती भवन टेक्स्ट्स** और **द प्रिंसेस ऑफ वेल्स सरस्वती भवन स्टडीज़**। कविराज की कतिपय प्रसिद्ध रचनाएं पहले पहल इन्हीं शृंखलाओं में प्रकाशित हुई थीं।

बचपन से ही धार्मिक रुचि होने के बावजूद कविराज की बुद्धि बड़ी विवेचनात्मक थी और आध्यात्मिक एवं रहस्यात्मक घटनाओं[६] के विशद तार्किक परीक्षण के पश्चात् ही आगे चलकर उन्होंने रहस्यात्मक एवं आध्यात्मिक दर्शन को क्रमशः स्वीकार किया। इस सब के साथ उनके अपने व्यक्तिगत अनुभव एवं आलोचनात्मक चिंतन के फलस्वरूप अंततः उन्होंने एक विशद दार्शनिक संश्लेषण प्रस्तुत किया जो आध्यात्मिक अनुभवों पर आधारित था।

कविराज की कतिपय महत्त्वपूर्ण रचनाओं की सूची निम्न प्रकार है :

I आरंभिक लेखन (१९०४-१३)

बांग्ला

कविता : 'शेखान', **बान्धब**, ढाका, **१९०४**

साहित्यिक आलोचना : 'हृदय-युमना', **आरती**, मैमनसिंह, १९०७

'ब्राउनिंग', **प्रवासी**, कलकत्ता, १९१०-११

'बायरन', **प्रतिभा**, ढाका, १९११

II मध्य चरण (१९१४-३७)

बांग्ला

१. 'सागर संगीत', **अलका**, बनारस, १९२२

२. 'रस ओ सौंदर्य', **बंग साहित्य**, बनारस, १९२३

३. 'रवीन्द्रनाथ ओ बलाका', **उत्तरा**, बनारस, १९२७

४. 'प्रत्यभिज्ञा दर्शनेर भूमिका', **अलका**, बनारस, १९२२

५. 'गौड़ीय वैष्णव दर्शन', **उत्तरा**, बनारस, १९२५-२६

अंग्रेज़ी

१. 'द व्यू पॉइंट ऑफ न्याय वैशेषिक फ़िलॉसफ़ी',

प्रिंसेस ऑफ वेल्स सरस्वती भवन स्टडीज, १९२२

२. 'निर्मन काया', वही, १९२२.

३. 'डाक्ट्रिन ऑफ प्रतिभा इन इंडियन फ़िलासफ़ी', **अबोरी**

४. 'थीइज्म इन एन्श्यट इंडिया', **सरस्वती भवन स्टडीज़**, १९२३-२४

५. 'हिस्टरी ऐंड बिब्लियोग्रफ़ी ऑफ न्याय-वैशेषिक लिटरेचर', वही, १९२४-२५.

६. 'द प्रॉब्लम ऑफ कौज़ैलिटी इन सांख्य' वही, १९२५.

७. 'द कन्सैप्शन ऑफ फ़िज़िकल एंड सुपर-फ़िज़िकल आर्गैनज्म इन संस्कृत लिटरेचर', वही, १९३८

हिन्दी

१. 'संस्कृत साहित्य के इतिहास में काशी का भाग'

विद्यापीठ पत्रिका, वी. एस. १९८५

२. 'धर्म का सनातन आदर्श', **कल्याण**, वी. एस. १९८९

३. 'प्राचीन अद्वैतवाद के साथ शंकर के अद्वैतवाद का सम्बन्ध', वही, वी. एस. १९९३ [एवं मुद्रित]

४. 'इंट्रोडक्शन टू ब्रह्मसूत्राज़, अच्युतग्रंथमाला, १९३६

III अंतिम चरण (१९३७-७६)

ग्रंथ

१. **श्री श्री विशुद्धानंद प्रसंग**, ५ खंड, वाराणसी, १९२७-३१

२. **अखंड महायोग**, कलकत्ता, १९४८

३. **साधुदर्शन ओ सत्प्रसंग**, १९६२-६३

४. **तंत्र ओ आगमशास्त्रेर दिग्दर्शन**, कलकत्ता, १९६३

५. **आस्पेक्ट्स ऑफ इंडियन थॉट**, बर्दवान, १९६६

६. **भारतीय साधनार धारा**, कलकत्ता, १९६५

७. **साहित्य चिंता**, कलकत्ता, १९६६

८. **भारतीय संस्कृति और साधना**, २ खंड, पटना, १९६३-६४

९. **तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि**, पटना, १९६३

१०. **काशी की सारस्वत साधना**, पटना, १९६५

११. **श्रीकृष्ण प्रसंग**, १९६७

१२. **तांत्रिक साहित्य**, लखनऊ, १९७२

१३. **स्वात्मसंवेदन** (हिन्दी अनु. १९८३)

लेख

१. 'भारतीय संस्कृति का स्वरूप', **राष्ट्रधर्म**, वी. एस., २००६

२. 'भारतीय संस्कृति', **उत्तरा**, १९४७

३. 'नाद, बिन्दु ओ कला', वही, १९४८

४. 'शाक्त फ़िलॉसफ़ी', **हिस्टरी ऑफ फ़िलासफ़ी, ईस्टर्न ऐंड वेस्टर्न**, १९५२

५. 'इंट्रोडक्शन', **बौद्ध धर्म दर्शन**, नरेंद्र देव

६. 'इंट्रोडक्शन', **स्टडीज इन जैन फिलासाफी**, नथमल टाटिया

७. 'भक्ति रहस्य', **कल्याण** वी. एस. २००६

८. 'नाद, बिंदु ऐंड कला', जे. जी. जे. आर. आई., १९४४-४५

९. 'देहेर साधन', **हिमाद्रि**, (साप्ताहिक), मई-अगस्त १९५३. नवंबर १९५५- जनवरी १९५६

१०. 'महाज्ञानेर अवतरण', वही, नवंबर १९५६

११. 'पथेर संधान', वही, जून १९५६- जुलाई १९५७

१२. 'पूर्णत्वेर अरोह ओ अवरोह', वही, मई १९५९

१३. 'आत्मार पूर्ण जागरण ओ परिणति' **विशुद्ध बानी**, १९५७

इस सूची से कविराज के विशद लेखन का पूरा अनुमान नहीं होता। उनके अनेक लेख चारों भाषाओं के प्रकाशनों के बिखरे पड़े हैं और उनका बहुत-सा लेखन या तो अप्रकाशित है या बहुत कम लोगों को उसकी जानकारी है। कविराज रिकार्ड एवं डायरी रखने में बड़े सतर्क थे। उनके पत्रों एवं वार्ताओं के निजी रिकार्ड भी अत्यंत

महत्त्वपूर्ण सूत्र हो सकते हैं । उनका प्रकाशन एवं समुचित अध्ययन तो भविष्य की बात है। आज जो परम आवश्यक है वह यह कि उनकी रचनाएँ संपूर्ण एवं प्रामाणिक रूप से उपलब्ध हों। जब तक ऐसा नहीं होता कविराज की रचनाओं का पूरा विवरण देना संभव नहीं होगा।

२

भारतीय दर्शन : कविराज की अनुसंधान यात्रा

कविराज ने भारतीय दर्शन का एक विशिष्ट दृष्टिकोण से अवलोकन किया है। उन्होंने न केवल पारंपरिक प्रतिमान के अनुरूप मूल ग्रंथों पर आधारित गहन एवं कठिन अध्ययन की आवश्यकता अपितु इन मूल ग्रंथों के विस्तृत इतिहासपरक परीक्षण की आवश्यकता भी प्रतिपादित की। साथ ही उन्होंने दार्शनिक प्रणालियों एवं सिद्धान्तों के तार्किक गठन की सूक्ष्म व्याख्या की आवश्यकता को भी रेखांकित किया। इसके अतिरिक्त उनका यह भी आग्रह था कि दार्शनिक द्रष्टा भी हो। दर्शन सत्य के साक्षात्कार को लेकर चलता है और उसका तार्किक विश्लेषण करके एक सिद्धान्त का निर्माण करता है। आध्यात्मिक एवं नैतिक आवश्यकताओं के प्रत्युत्तर में वह एक विशिष्ट सांस्कृतिक परिवेश के भीतर कार्य करता है और ऐतिहासिक विकास एवं परिवर्तन से गुजरता है। साथ ही वह तार्किक सत्य को पाने की आकांक्षा का मूर्त रूप भी होता है। इस प्रकार वास्तविक दार्शनिक प्रणालियों में निरपेक्ष का सापेक्ष से, तार्किक का आध्यात्मिक एवं ऐतिहासिक से मिलन होता है।

यद्यपि महान् चिंतक की वैयक्तिकता अदम्य रहती है, तथापि भारतीय परंपरा में दर्शन की जो संकल्पना है वह दार्शनिक के वैयक्तिक एवं सर्जनात्मक पक्ष की तुलना में उसके 'वैज्ञानिक' एवं 'अनामिक' पक्ष पर ही अधिक बल देती है। दार्शनिक प्रणालियों में पाए जाने वाले वैविध्य का कारण उपागमों और व्याख्याओं की विविधता ही समझना चाहिए। यथार्थ को देखने के अनेक स्तर एवं पक्ष होते हैं और द्रष्टाओं एवं व्याख्याकारों की अभिरूचि के अनुसार विभिन्न प्राथमिकताएँ भी होती हैं। यह वैविध्य ही अनंत की शुभ्राभा में इंद्रधनुषी रंगों का समावेश कर देता है। अतः कविराज की दृढ़ आस्था है कि विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों को एक विशद, क्रमिक संश्लेषण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।[१]

कविराज की इस धारणा की तुलना अन्य प्रचलित धारणाओं से की जा सकती है। दर्शन के आधुनिक इतिहास-लेखन का आरंभ हेगल से माना जा सकता है जिसने दर्शन के इतिहास को तार्किक प्रत्यय के द्वंद्वात्मक विकास के रूप में देखा था। बाद के इतिहासकारों ने विकासवादी संकल्पना एवं वैज्ञानिक और सामाजिक परिवर्तन की भूमिका पर अधिक बल दिया। डेकार्ट या कांट जैसे दार्शनिक स्वयं अपने विषय के

विकास से संतुष्ट नहीं थे और चाहते थे कि इसकी पद्धतियों और लक्ष्यों में कुछ ऐसी वास्तविक क्रांति हो जिससे वह निश्चित प्रगति के मार्ग पर अग्रसर हो सके। व्यवहार रूप में वे अपने दर्शन के वैशिष्ट्य को स्थापित करके महान् दार्शनिक परंपरा की एकरूपता को खंडित करने में सफल रहे। इसमें संदेह नहीं कि अरस्तूवाद, टामसवाद, डेकार्टवाद, ऐंग्लोसैक्सन अनुभववाद, जर्मन प्रत्ययवाद अथवा भाववाद इत्यादि दर्शन की महत्त्वपूर्ण धाराएँ अथवा प्रवृत्तियाँ रही हैं, किन्तु इनके बीच किसी प्रकार की संश्लेषण अथवा क्रमिकता की बात निजी कल्पना तो हो सकती है, गंभीर विवेचन का विषय नहीं।

आधुनिक पाश्चात्य जगत का भारतीय दर्शन सम्बन्धी विवरण प्रशंसात्मक नहीं रहा है। धर्म और मिथक के साथ भारतीय दर्शन के सहचार के सम्बन्ध में इसमें अप्रिय बातें कही गई हैं। यह एक सामान्यतः स्वीकृत मान्यता है कि दर्शन शुद्धतः बौद्धिक प्रयास होता है। तथापि, शुद्ध बुद्धि के स्वरूप एवं सीमाओं तथा आस्था, मूल्यों, अनुभव और यथार्थ के साथ इसके सम्बन्ध के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। ये विवाद का विषय हैं। अंतर्ज्ञान अथवा दिव्य ज्ञान अथवा अतीद्रिय अनुभव का विवेचन मनोवैज्ञानिकों अथवा अध्यात्मविधाविदों ने ही अधिक किया है, दार्शनिकों ने प्रायः यह विवेचन नहीं किया है। उनकी प्रवृत्ति तो अनुभव को आम इंद्रियगम्य अनुभव और शुद्ध बुद्धि को तार्किक निगमन के रूप में देखने की रही है। निःसंदेह इस संक्षिप्त एवं स्थूल विवरण के अनेक अपवाद मिल जाएंगे, किन्तु कदाचित् इस विचार पर किसी को आपत्ति हो कि आज दर्शन के सम्बन्ध में आम धारणा है कि यह एक शुद्ध बौद्धिक एवं विवेचनात्मक कम है जिसका लक्ष्य सकारात्मक ज्ञान नहीं है। वाइटहेड और ऐलेक्ज़ैंडर जैसे संसृतिशास्त्री तो अपवाद स्वरूप ही हैं।

इसके विपरीत, कविराज ने दर्शन की भारतीय संकल्पना को आधुनिक पाश्चात्य संकल्पना की अपेक्षा मध्ययुगीन संकल्पना के ही अधिक निकट दर्शाया है। भारत में अलौकिक ज्ञान अथवा दिव्यदृष्टि से मिलने वाले प्रकाश से रहित मात्र दार्शनिक चिंतन को अंधा माना जाता था। अतः जिन पूर्वमान्यताओं के आधार पर तर्कबुद्धि अपने अनुमानों का विन्यास करती है वे स्वभावतः उससे परे और उसकी पहुँच से बाहर होती हैं। तर्कबुद्धि किसी भी स्थिति में अपनी आधार सामग्री का अतिक्रमण करने में सक्षम नहीं होती। वह सर्जनशील अथवा सहज-ज्ञान संपन्न नहीं होती। इसका कार्य आधारसामग्री की व्याख्या करना मात्र है। अतः 'प्रत्यक्ष अनुभव' का सहारा लेने के अतिरिक्त इसके पास अन्य कोई चारा नहीं होता।[२] किन्तु मानव अनुभव तो सीमित होता है और इसमें भ्रांति की सम्भावना भी रहती है। अतः दर्शन को तो एक ऐसे अनंत अनुभव की आवश्यकता होती है जो तर्कणा का आधार हो सके। 'यह अनंत अनुभव श्रुति ग्रंथों

में समाविष्ट है।' सामान्यतः भारतीय दार्शनिक के लिए तो तर्कबुद्धि आस्था की दासी होती है, बहुत कुछ उसी प्रकार जिस प्रकार मध्यकालीन यूरोप के अध्यात्मविद्यावादियों के लिए थी। 'पहले मानो फिर जानो' (श्रद्धवाँल्लभते ज्ञानम्) भारतीय दर्शन का यही आदर्श प्रतीत होता है।[३]

इस दृष्टि से मानव जीवन में दर्शन की आवश्यकता स्वीकार करते हुए भी उसे गौण स्थान दिया गया है। यद्यपि वास्तविक ज्ञान का मूल स्रोत ईश्वरीय ज्ञान है तथापि मानव जीवन की यथार्थ स्थिति ऐसी है कि ईश्वरीयज्ञान जो कुछ दर्शाता है उसे निर्विवाद रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता। जब तक मानव अपनी तर्कबुद्धि की जिज्ञासा का संतोषजनक समाधान नहीं पा लेता, वह आश्वस्त नहीं होता, दिव्य ज्ञान में आस्था तभी हो सकती है जब यह विश्वास हो जाए कि वह बौद्धिक सत्य का विरोधी नहीं है। दिव्य ज्ञान विश्वासयोग्य तभी होता है जब सम्भावना बुद्धि उसे स्वीकार करे। उपनिषद् के सुपरिचित आदेश, '**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**' का तात्पर्य है कि श्रुति ग्रंथों से आत्मा के स्वरूप को जानने के पश्चात् व्यक्ति तर्कणा द्वारा उस पर विचार करे और तब बौद्धिक आस्था प्राप्त करके पुनः उसका चिंतन करे ताकि सहजबोधात्मक अनुभव को पा सके।

ऐसी नहीं है कि प्राचीन काल में तार्किक दर्शन एवं अध्यात्मविद्या में भेद नहीं किया जाता था। चार विद्याओं (त्रयी, अनवीक्षिकी, दंडनीति, और वार्ता) की प्राचीन व्यवस्था में आन्वीक्षिकी एवं त्रयी के बीच स्पष्ट भेद किया गया है। वेदों ने आध्यात्मिक सिद्धान्तों का प्रणयन किया जो अध्यात्मविद्या कहलाते हैं। आन्वीक्षिकी सिद्धान्तों का बौद्धिक परीक्षण करती है और वह अपने तार्किक एवं आलोचनात्मक मानदंड के अनुसार कार्य करती है। इसका मुख्य कार्य है शंकाओं का समाधान करना। 'सत्य का प्रतिपादन करना इसके अधिकार क्षेत्र में नहीं है — इसका कार्यक्षेत्र तो वस्तुओं की युक्तियुक्तता से सम्बन्धित है।'[४]

दर्शन को 'न्याय' या 'प्रमाण' या 'विचारशास्त्र' भी कहा जाता था। क्योंकि 'शब्द' ज्ञान ('प्रमाण') प्राप्त करने का एक साधन है, अतः आवश्यकता है कि इसकी आत्मसंगति के साथ ही ज्ञान के अन्य साधनों (प्रमाणों) के साथ इसकी संगति की परीक्षा की जाए, और यह परीक्षा करना दर्शन का कार्य है। इस प्रकार, सामंजस्य-पूर्वक कार्य करते हुए आस्था एवं तर्कबुद्धि जीवन के एक ऐसे व्यावहारिक दर्शन अथवा 'दृष्टि' को जन्म देते हैं जो साधना के लिए अपरिहार्य है।

दर्शन के स्वरूप के सम्बन्ध में इस धारणा से यह नहीं समझना चाहिए कि इसने तो दर्शन को संकीर्ण अध्यात्मविद्या अथवा इसकी बांदी बना दिया है। अपने

बौद्धिक एवं समीक्षात्मक कार्यकलापों में दर्शन स्वतंत्र होता है। वाचस्पति मिश्र का कहना है कि श्रुति की आज्ञप्ति वस्तुओं के स्वरूप को नहीं बदल सकती।[५] उदयन का मत है कि सत्य वही है जो प्रमाण द्वारा प्रकाशित हो ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार पूर्व दिशा वही होती है जहाँ से सूर्योदय होता है। बौद्धों की दृढ़ मान्यता है कि सभी सिद्धान्तों को तार्किक परीक्षण की कुठाली में परखना चाहिए।[६] तर्कबुद्धि की समीक्षात्मक स्वायत्तता को इतनी ढील देने का तात्पर्य यह हुआ कि दार्शनिक अपनी अपनी बौद्धिक मान्यताओं के अनुसार शास्त्रों की व्याख्या करने के लिए स्वतंत्र थे। किन्तु बौद्धिक स्वायत्ता का तात्पर्य यह कदापि नहीं हो सकता कि वह अनुभव से भी मुक्त है, और अनुभव केवल इंद्रियगम्य सामान्य अनुभव तक ही सीमित नहीं होता। मानव-अनुभव का संकलित प्रमाण एक अतींद्रिय आध्यात्मिक अनुभव को सत्यापित करता है। यह अनुभव ही दिव्य ज्ञान का प्रामाणिक स्वरूप है। दिव्य ज्ञान को किसी अद्भुत घटना अथवा विशेष ग्रंथों तक ही सीमित नहीं रखा जाना चाहिए। दिव्य ज्ञान तो द्रष्टाओं का घोषणा-पत्र है जो सभी युगों और सामाजिक व्यवस्थाओं में उत्पन्न होते हैं। दार्शनिक बोध एवं प्रवृत्ति की भाँति दिव्य ज्ञान के भी विविध रूप होते है। इसके विविध स्तर होते हैं और इसकी अभिव्यक्ति भी विविध रूपों में होती है। सत्य तो यह है कि अनंत एवं अमोघ अनुभव के रूप में दिव्य ज्ञान अनिवर्चनीय होता है। शब्द इसे आंशिक रूप से ही अभिव्यक्त कर सकते हैं। भाषा एवं विचार की सीमाओं के कारण इस शाब्दिक अभिव्यक्ति का विकृत होना अवश्यंभावी है।

अतः यह कहने का कि दर्शन का कार्य ईश्वरीय ज्ञान का परीक्षण एवं व्याख्या करना है, तात्पर्य यही है कि आध्यात्मिक सत्य का निरूपण दर्शन के प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अनुभव के प्रमाण पर आधारित करना चाहिए। जिस प्रकार प्रकृति का कोई भी वैज्ञानिक विवरण इंद्रियगम्य प्रमाणों के परीक्षण के बिना नहीं दिया जा सकता उसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में दार्शनिक विवरण भी दिव्य प्रमाण के परीक्षण के बिना नहीं दिया जा सकता। ऐसा कहकर हम किसी विशिष्ट धार्मिक अथवा शास्त्रीय परंपरा के आंशिक सत्य को सिद्धान्त का रूप नहीं दे रहे हैं। इसका स्वरूप तो सार्वजनीन है। ईश्वरीय ज्ञान के सम्बन्ध में किए जाने वाले समस्त दावों का परीक्षण तर्क एवं अन्य प्रमाणों के आधार पर निष्पक्ष रूप से किए जाने की आवश्यकता है।

यह मानकर भी नहीं चलना चाहिए कि ईश्वरीय ज्ञान पर किसी विशिष्ट व्यक्ति, व्यक्तियों अथवा समुदायों का एकाधिकार है। अन्य अनुभवों की भाँति इसे भी प्रत्यक्ष किया जा सकता है और इसीलिए व्यक्तिगत स्तर पर इसका परीक्षण करना संभव है। सर्वविदित है कि श्री रामकृष्ण परमहंस ने व्यक्तिगत रूप से विभिन्न दार्शनिक पद्धतियों की साधना का परीक्षण किया था और उसके परिणामस्वरूप होने वाले ईश्वरीय ज्ञान

का अनुभव किया था। कविराज ने अनेक संतों और मनीषियों से साक्षात्कार किया था और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि ईश्वरीय ज्ञान सम्बन्धी उनके साक्ष्य और विभिन्न परंपराओं के प्राचीन धार्मिक शास्त्रों में वर्णित साक्ष्य में कहीं कोई अन्तर नहीं है। वस्तुतः वे स्वयं भी साधक थे और उन्हें अपने अनुभव एवं अध्यात्म विद्या में कोई विरोध दिखाई नहीं देता था।

अतः कहा जा सकता है कि दर्शन दिव्य दृष्टि पर आधारित तो होता है किन्तु वह अपनी स्वायत्तता नहीं खोता। दिव्य दृष्टि की तुलना में दर्शन को इसी प्रकार गौण कहा जा सकता है जिस प्रकार कि रचना की तुलना में आलोचना को या अनुभव की तुलना में तर्क को।

दर्शन के स्वरूप की ऐसी व्याख्या न केवल उसकी स्वायत्तता को बनाए रखती है अपितु मानव जीवन एवं संस्कृति में उसे एक निश्चित एवं अनिवार्य स्थिति प्रदान कर देती है। इतना ही नहीं, इससे 'यह समझने में भी सरलता होती है कि बाह्य रूप से परस्पर विरोधी एवं एक दूसरे के लिए विध्वंसक प्रतीत होने वाली विभिन्न दार्शनिक पद्धतियों की मूलोत्पत्ति किस प्रकार हुई। अति बौद्धिक अंतर्ज्ञान के प्रकाश में प्रकट होने वाला परम सत्य एक और अखंड होता है किन्तु अलग-अलग साधकों की निजी क्षमता एवम् रुचि के अनुसार, विभिन्न दृष्टिकोणों से देखे जाने पर यह वैविध्यपूर्ण दिखाई देता है। जब तक वैयक्तिक चेतना अपनी सत्ता घोषित किए रहती है — जब तक हम 'बुद्धि' को ज्ञान का अंग मानते रहे हैं, तब तक परम सत्य की प्राप्ति की आशा व्यर्थ है। मानवीय तर्क बुद्धि के द्वारा तो केवल सापेक्ष अथवा आंशिक सत्य तक ही पुहँचा जा सकता है। इन्हीं सापेक्ष अथवा खंडित सत्यों, या परम सत्य के विभिन्न पक्षों को ही दर्शन की विभिन्न पद्धतियाँ अपना तात्कालिक लक्ष्य समझती हैं। वे तो साधक की आत्मोपलब्धि की ऊर्ध्वगामी यात्रा के विभिन्न सोपान हैं। यदि इन्हें एक साथ जोड़ कर परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाले पूर्ण के आलोक में देखा जाए तो ये संश्लेषण का एक उदात्त स्वरूप प्रस्तुत करेंगे . . .।[७] पद्धतियों का यह समन्वय इसीलिए 'संभव है क्योंकि मूलतः वे एक ही हैं।' 'दिव्य ज्ञान में अभिव्यक्त होने वाली यह एकता अतींद्रिय है।' ऋषियों और द्रष्टाओं ने आत्मविभाजन की आभासी प्रक्रिया द्वारा इस एकता को प्रतीकात्मक ज्ञान की संकल्पनाओं में विभाजित किया, उन्हें उत्तरोत्तर अधिक शुद्धता की विशिष्ट श्रेणियों में व्यवस्थित किया और उन्हें बुद्धिविलास के लिए प्रस्तुत किया। यदि इसका समुचित रूप से अनुशीलन किया जाए तो बुद्धि की धुंध आश्चर्यजनक रूप से साफ हो जाती है, 'बुद्धि' काम करना बंद कर देती है और तिरोहित हो जाती है। तब शुद्ध आत्मा पर सत्य बिजली की भाँति कौंध कर समस्त संशयों और अनिश्चततओं को दूर कर देगा।'[८]

दार्शनिक अनुभव के बहुसोपानात्मक सामंजस्य की यह संकल्पना अधिकार भेद अथवा विभेदात्मक क्षमता के सिद्धान्त पर आधारित है। इसका तात्पर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति में प्रत्येक प्रकार के सत्य को ग्रहण करने की क्षमता नहीं होती। 'बोध की क्षमता धीरे-धीरे विकसित होती है और विकास की इस प्रक्रिया में जो सत्य एक समय अग्राह्य और अस्पष्ट प्रतीत होते थे अर्थवत्ता का गांभीर्य ग्रहण करने लगते हैं और बोधगम्य हो जाते हैं। यही कारण है कि एक युग की भूल दूसरे युग का विवेक बन जाती है। देशों और व्यक्तियों के साथ भी ऐसा ही होता है।'[९] अनेक प्राचीन चिंतकों और मनीषियों ने जिज्ञासु की समझ और स्वभाव के प्रति दार्शनिक सत्य की सापेक्षता को स्वीकार किया है। उदयन, मधुसूदन सरस्वती,[१०] बौद्धों [११] और कश्मीरी शैवों[१२] ने इस धारणा को अभिव्यक्त किया है। जैन इसे अपने ढंग से मानते हैं। कट्टरता एवं संकीर्ण पांडित्य के कारण यह धारणा धुंधली पड़ गई थी। आधुनिक युग में कविराज ने इसकी बड़ी सुस्पष्ट व्याख्या की है। जिस प्रकार श्री रामकृष्ण परमहंस ने साधना के विभिन्न रूपों के मूल में स्थित आंतरिक संगति को सिद्ध किया है, उसी प्रकार कविराज ने भारतीय दर्शन की विभिन्न प्रणालियों के मूल में विद्यमान संगति की धारणा स्थापित की है। वे विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों के अधिकारी विद्वान थे और वे इन प्रणालियों की गहन आध्यात्मिक समझ के कारण उन्हें प्रामाणिक सुसंबद्धता प्रदान कर सकते थे। उनकी मान्यता थी कि 'भारतीय दर्शन की प्रणालियों में सचमुच एक व्यवस्था है जिसे सावधानीपूर्वक अध्ययन करके ढूँढ़ा जा सकता है।' जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अनेक प्राचीन चिंतकों ने इसी प्रकार विभिन्न श्रेणीबद्ध व्यवस्थाएं प्रस्तुत की थीं। कविराज को इस बात का संतोष था कि जहाँ इन भेदों पर चर्चा किए जाने की आवश्यकता है, वहीं इनके बीच विद्यमान व्यवस्था को नकारा नहीं जा सकता और वहीं भारतीय दार्शनिक के अनुसार चिंतन और कार्यकलाप के वैविध्य के बीच लक्ष्य के साथ पद्धतियों की एकता की भावना को भी देखा जा सकता है।'[१३]

इस दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में जिस प्रणाली का परीक्षण कविराज ने सर्वप्रथम किया वह थी न्याय-वैशेषिक। उन्होंने आलोचनात्मक टिप्पणी सहित न्याय-वैशेषिक साहित्य की संदर्भ-ग्रंथ सूची का प्रकाशन किया जिसमें प्रकाशित एवं अप्रकाशित, दोनों ही प्रकार के स्रोतों से सामग्री ली गई थी। यह ग्रंथ न्याय-वैशेषिक के विद्वानों एवं विद्यार्थियों के लिए मानक मार्गदर्शक का कार्य करता रहा है। तत्पश्चात् कविराज ने अपनी विशिष्ट और गम्भीर शैली में इस प्रणाली की मूलभूत धारणा की व्याख्या आरंभ की। इस धारणा में सामान्य ज्ञान पर आधारित तर्कणा प्रधान रहती है जिसमें बाह्य जगत की यथार्थता पर, विभिन्न वस्तुओं की भिन्नता पर, हेतुक नियम की सर्वव्यापकता पर और भाषा एवं तर्क की सक्षमता पर बल दिया गया है। अपने यथार्थवाद, बहुत्ववाद और सर्वपदार्थवाद के कारण न्यायवैशेषिक दर्शन ने भाषा और तर्कविज्ञान का तथा

सामान्य अनुभव के संसार का तीक्ष्ण विश्लेषण किया है साथ ही आत्मा, ईश्वर, मरणोपरांत जीवन और मोक्ष जैसे आध्यात्मिक विषयों का भी बड़ा ही सजीव एवं तर्कबुद्धिपरक पक्षपोषण किया है। इसमें पाखंड, भौतिकतावाद और नास्तिकता की कड़ी आलोचना की गई है। सहज ज्ञान एवं तार्किकता के प्रति समर्पित होते हुए भी इसने परंपरा के प्रति निष्ठा को बनाए रखा है। अतः कविराज का कथन है कि सामान्यतः संश्लेषवादी चिंतक न्याय वैशेषिक दर्शन को इस शृंखला के निम्नतम सोपान पर स्थित मानते हैं।[१४] यहाँ यह कहने का लोभ संवरण कर पाना कठिन है कि द्वारपाल को तो सबसे नीचे ही खड़ा रहना पड़ता है जहाँ से वह बाहर वालों पर दृष्टि रखने के साथ ही ऊपर चल रही गतिविधियों की जानकारी भी रख सके।

न्याय वैशेषिक दर्शन की मूल धारणा को स्पष्ट करते हुए कविराज का कथन है: 'सर्वप्रथम और मूलतः तो यह आस्था दिखाई देती है कि हमारे चिंतन के क्रम और उसके बाहर स्थित यथार्थ, जिसे हमारा चिंतन सत्यापित करता है, के क्रम के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये दोनों क्रमिकताएँ एक दूसरे से एक हेतुक क्रमिकता द्वारा जुड़ी रहती हैं — अतः जो कुछ हमारी चेतना में आता है उसका यथार्थ में कोई वस्तुगत आधार अवश्य रहता है। यह हमारी चेतना से वहीं तक स्वतंत्र है जहाँ तक यह हमारे मानसिक जीवन की घटनाओं के अस्तित्व से पूर्व अस्तित्वमान रहता है।'[१५] यह वस्तुगत यथार्थ किसी तात्कालिक अवबोध से जुड़ा हो सकता है अथवा किसी ऐसी धारणा से जिसकी प्राप्ति अमूर्त तर्कणा द्वारा अथवा ज्ञान के किसी अन्य प्रामाणिक स्रोत के माध्यम से हुई हो। प्रतीति यथार्थ का प्रतीक है और व्यवहार यथार्थ पर आधारित होता है अतः इसे इसके अस्तित्व का संकेत मान लिया गया है।' निम्न सूत्र में इसी बात को अभिव्यक्त किया गया है संविदेव हि भगवती वस्तूपगमे नः शरणम् — चेतना की शरण में जाने पर ही यथार्थ की प्राप्ति होती है।

न्याय वैशेषिक दर्शन हेतुकता अथवा कारणत्व को निर्विवाद रूप से स्वीकार करता है क्योंकि इसे नकारने से तो तार्किक विश्लेषण एवं व्यवहार ही मिथ्या सिद्ध हो जाएगा। हेतुक प्रक्रिया का निरीक्षण करके यह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि यह एक ऐसे कार्य को उत्पन्न करती है जो पहले वर्तमान नहीं था और जो नष्ट कर दिए जाने पर निःशेष हो जाता है। 'सापेक्ष रूप से, कारण नित्य होता है और कार्य अनित्य।' द्रव्य और सामान्य पहले ही वर्तमान रहते हैं। कार्य के उत्पन्न होने का तात्पर्य है इस द्रव्य में किसी रूप-विशेष का प्रकट होना, 'जो एक ओर तो सामान्य की अभिव्यक्ति होता और दूसरी ओर उस व्यक्ति की उत्पत्ति जिसमें सामान्य का बोध होता है।' यह नैयायिकों का असत्कार्य का सिद्धान्त है जिसे बौद्ध और सांख्य, दोनों ही सिद्धान्तों के विरोध में खड़ा किया गया।

किसी भी कार्य के कारणत्व में 'स्थिति अथवा गति का परिवर्तन निहित रहता है जिसमें दो कारकों की उपस्थिति पूर्व-स्वीकृत होती है, जिनमें से एक ग्रहण करने वाला कारक निष्क्रिय होता है, और दूसरा परिवर्तन लाने वाला कारक सक्रिय होता है।'[१६] निष्क्रिय तत्त्व द्रव्य अथवा उत्पन्न वस्तु का समवायी कारण होता है और अपेक्षाकृत रूप से स्थायी होता है। 'यह अनिवार्यतः एक सार होता है जिसका स्वरूप सकारात्मक होता है। सक्रिय घटक, जिसे निमित्त कारण कहा जाता है, उत्पन्न वस्तु पर या तो प्रत्यक्ष रूप से या अपनी उपस्थिति मात्र से क्रिया करता है।' ईश्ववरेच्छा, देशकाल इत्यादि की कारणत्व क्षमता को इस बाद वाले अर्थ में ही समझना चाहिए। जहाँ उपादान कारण आंतरिक होता है, वहीं निमित्त कारण बाह्य होता है। तथापि, न्याय वैशेषिक अपनी मूल स्थापना के कारण एक तीसरे और बीच के कारण को मानने के लिए बाध्य है जिसे असमवायी कहा गया है।

जहाँ मूल द्रव्य और सामान्य शाश्वत होते हैं, वहीं व्यक्तियों की उत्पत्ति होती है और वे नश्वर होते हैं। हेतुक प्रक्रिया अथवा हेतुक प्रक्रिया का आरंभ ही सृष्टि का आरंभ है। मूल द्रव्य, जिसमें आणविक एवं सर्वव्यापी दोनों ही प्रकार सम्मिलित हैं, दिक् काल सामान्यों एवं आणविक मनों की कोख में आणविक पदार्थ और आणविक मनों की आरंभिक हलचल से सृष्टि का आरंभ होता है। इस हलचल का कारण अदृष्ट होता है जो आत्मा में एक विशिष्ट गुण के रूप में विद्यमान रहता है। 'कहने का तात्पर्य यह कि मन और द्रव्य के कणों को सक्रिय करने वाली एक ही शक्ति है जिसे आत्मा में स्थित गुण माना गया है।' संसार की सृष्टि का 'औचित्य भी केवल नैतिक आधार पर एक ऐसे कल्प के रूप में माना जा सकता है जिसमें आत्मा को अपना प्रारब्ध भोगना होता है। इसका कोई अन्य तात्पर्य नहीं हो सकता।' विगत कर्म और यत्न आत्मा में ऐसी वृत्तियां उत्पन्न करते हैं जो सुषुप्तावस्था में रहती हैं और समय आने पर सुख-दुखों का कारण बनती हैं, और जो 'वस्तुतः दृग्विबयक अस्तित्व के समस्त विश्व-दृश्य को उत्पन्न करती हैं।' [१७]

कर्म प्रत्येक आत्मा में निवास करते हैं और साथ ही साथ अणुओं को प्रत्येक शरीर में एकत्र भी करते चलते हैं और उस आत्मा को उस शरीर से जोड़ते भी चलते हैं। 'एक आत्मा में निवास करने वाले कर्म उसके लिए अणुसंघात की प्रक्रिया द्वारा अनुभवों का एक माध्यम तैयार करते हैं।' इस धारणा के बिना सर्वव्यापी आत्माओं और विशिष्ट शरीरों के संयोग की बात समझायी नहीं जा सकती। जीवात्मा विभु है और इस कारण सर्वत्र व्याप्त है तथापि जिस एक शरीर का वह अधिष्ठाता है, वहीं उसको अनुभूतियों का सुख-दुखों का, संवेदन हो सकता है और उसी के माध्यम से यह कर्म करेगा। इसका कोई नियम तो होना चाहिए। कर्म ही वह नियम है।

अन्य प्रतिष्ठित दार्शनिक पद्धतियों की भाँति न्याय भी कर्म का उद्गम अज्ञान से मानता है। 'अज्ञान यह सोचना है कि आत्मा ही कर्त्ता और भोक्ता है और कि वह शरीर एवं संवेगों से अभिन्न है या कम से कम उनका स्वामी है।' सच्चा कर्तृत्व तो केवल ईश्वर का है, यद्यपि मनुष्य सत्य की नितांत मिथ्या धारणा के कारण श्रम करता है और कष्ट भोगता है। मानव जीवन के सच्चे लक्ष्य की प्राप्ति, अनुभव के सर्वव्यापी दुख से आत्मा की मुक्ति, तभी संभव है जब परमात्मा के सर्व-शक्तिमान होने का ज्ञान हो जाए, अर्थात् मनुष्य यह जान ले कि कारणत्व की समस्त शक्ति अंततः ईश्वर की इच्छा से ही उत्पन्न होती है।

कविराज द्वारा प्रस्तुत न्याय-वैशेषिक दर्शन की मूल प्रस्थापना की इस संक्षिप्त व्याख्या से स्पष्ट है कि इसमें नैतिक एवं आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर बल दिया गया है और संपूर्ण दार्शनिक प्रणाली को उन अनिवार्यताओं से जोड़ा गया है जो इन सिद्धान्तों से उत्पन्न होती हैं। सामान्यतः न्याय के तार्किक सिद्धान्तों तथा वैशेषिक के पदार्थशास्त्र पर बल दिया जाता है। किन्तु कविराज इस दार्शनिक प्रणाली की आंतरिक आध्यात्मिक खोज पर बल देते हैं। मुक्ति की खोज में कर्म की समस्या सामने आती है जिसके परिणामस्वरूप अनुभव और अस्तित्व के मूल तत्त्व के रूप में हेतुकता अथवा कारणत्व का विश्लेषण होता है। इस विश्लेषण के परिणामस्वरूप यह दर्शन पदार्थों की व्यवस्था देता है और अंततः एक आस्तिक सृष्टिविज्ञान तक पहुँचता है। कहा जा सकता है कि उदयन की **न्याय-कुसुमांजलि** में न्याय दर्शन की पराकाष्ठा देखने को मिलती है। मध्ययुगीन आस्तिक दार्शनिक प्रणालियों का न्याय वैशेषिक दर्शन की मूल संकल्पनाओं एवं तर्कों पर व्यापक रूप से आश्रित होना अकारण नहीं था। यह सत्य है कि न्याय दर्शन के महान चिंतकों — वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति, उदयन और जयंत — का अपने प्रतिस्पर्धी चिंतकों, विशेष रूप से बौद्धों, के साथ शास्त्रार्थ का न्यायदर्शन के विकास में बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व रहा है, किन्तु इस शास्त्रार्थ में दर्शन की आधारभूत धारणाओं के स्पष्टीकरण के स्थान पर उन्हें पूर्व-मान्यताओं के रूप में ही देखा गया है। दार्शनिक शास्त्रार्थ में गौण संकल्पनाओं का मुख्य हो उठना असामान्य बात नहीं है। यही कारण है कि बौद्ध दर्शन में तार्किक विषय एवं सिद्धान्त मुख्य रूप से उभरे और न्याय दर्शन ने, जो आरंभ से ही तर्कशास्त्र से घनिष्ठ रूप से जुड़ा रहा था, इन पर और अधिक बल दिया।

यद्यपि न्याय वैशेषिक दर्शन एक ऐसी आध्यात्मिक खोज से संबद्ध रहा जिसका लक्ष्य मनः शारीरिक अनुभव से मुक्ति प्राप्त करना था, फिर भी रीतिशास्त्रीय दृष्टि से यह सहज ज्ञान की धारणाओं और व्यवहारों के तार्किक एवं भाषाविज्ञानात्मक विश्लेषण तक ही सीमित रहा। यह बात अलग है कि इनकी व्याख्या करने में वह केवल सहज

ज्ञान से परे भी गया। दूसरी ओर सांख्य दर्शन भी उसी खोज में चला किन्तु उसने योगिक अनुभव और इसके आध्यात्मिक विश्लेषण का सहारा लिया। यह अंतर दोनों प्रणालियों के मूल सिद्धान्तों में परिलक्षित होता है। सांख्य भी हेतुक परिघटना को मूलभूत मानता है किन्तु वह यथार्थ की सहज ज्ञान सम्बन्धी धारणा एवं इसमें वस्तुओं के भेद को अस्वीकार करता है। इसी कारण वह असत्कार्यवाद के सिद्धान्त को भी नहीं मानता। वह संपूर्ण सृष्टि के एक मूल स्रोत की धारणा को मानता है किन्तु वह इसका विश्लेषणा उस प्रकार नहीं करता जिस प्रकार कि न्याय वैशेषिक करता है। दोनों ही सृष्टि के पूर्व द्रव्य को आकारहीन, अनिर्दिष्ट एवं अतींद्रिय मानते हैं किन्तु जहाँ न्याय वैशेषिक के लिए सामान्य शाश्वत एवं विशेष नश्वर (ध्वंस-प्रतियोगी) है वहीं सांख्य के लिए विशेष स्थायी है और वह किसी यथार्थ स्वतंत्र सामान्य की आवश्यकता नहीं समझता। 'विशेष का स्वरूप दोहरा माना गया है (देखिए बाथ के एडलार्ड जैसे 'उदासीनतावादियों' का दृष्टिकोण) यथा सामान्यविशेषात्मक, और उसका अस्तित्व स्वतः शाश्वत होता है। जिसे सामान्यतः उत्पत्ति कहा जाता है वह आविर्भाव मात्रा होता है; अर्थात् मानो वह नित्य के स्तर से काल के क्षेत्र में उतर आता हो। और क्योंकि आविर्भाव मात्र सापेक्ष होता है, इसका तात्पर्य यह हुआ कि संपूर्ण अर्थ में, अर्थात् परमात्मा या युक्तयोगी की दृष्टि में उत्पत्ति अथवा सृष्टि जैसी कोई वस्तु होती ही नहीं। नित्यसत्ता में — दिव्य धरातल पर -- कोई 'गति' नहीं हो सकती और इसी कारण कोई 'परिवर्तन' भी नहीं।[१८]

ध्यान देने योग्य है कि सत्कार्यवाद के इस प्रतिपादन के कारण सांख्य दर्शन एक भिन्न ही आलोक में दृष्टिगत होता है। सामान्यतः तो माना जाता है कि यह दर्शन प्रकृति की निरंतर परिवर्तनशीलता पर बल देता है। सांख्य की 'सामान्य' सम्बन्धी धारणा पर कदाचित् ही ध्यान दिया गया हो। 'अपनी सहज-बोधात्मक एवं यथार्थवादी मान्यताओं के कारण नैयायिक स्वभावतः उस धारणा का पक्षधर होता है जो कारण (द्रव्य) और कार्य के बीच अत्यंत भेद को मानती है। उसकी दृष्टि में कारण और कार्य दो भिन्न संकल्पनाएं हैं यद्यपि कोई रहस्यपूर्ण सम्बन्ध उन्हें जोड़े रहता है। तथापि, कार्य के कारण से भिन्न रहने पर भी वह कारण में निहित रहता है और उसका अस्तित्व होता है, और उसका अनस्तित्व भी, चाहे वह प्रागभाव हो या ध्वंसाभाव, 'केवल कारण का ही प्रतिपाद्य होता है।' नैयायिकों का इस प्रकार 'वस्तुओं के स्वरूप' की दुहाई देने का तात्पर्य तो लगभग दुर्बलता स्वीकार करना हुआ। दूसरी ओर सत्कार्यवाद की धारणा है कि हमें यह मानकर चलना चाहिए कि 'हमारे चिंतन के अनुसार सत् सत् से ही उत्पन्न होता है, असत् से नहीं, और कि सत् को जन्म देने वाले किसी परम शून्य की कल्पना असंभव है।' 'प्रत्येक वस्तु सर्वोच्च प्रकृति का ही एक रूप होती है जिसमें वह किसी प्रकार एक शाश्वत क्षण के रूप में अविस्थत रहती है, शून्य से सृष्टि एवं

प्रलय की कल्पना करना हास्यास्पद है।' इस प्रकार, परिवर्तन को धर्म के अव्यक्त से व्यक्त एवं व्यक्त से पुनः अव्यक्तावस्था में जाने के रूप में परिकल्पित किया गया है।'[१९]

परिवर्तन की इस धारणा से ध्वनित होता है कि सिद्धान्त रूप में ध्वंस अनुक्रमणीय नहीं हो सकता, और कविराज तो वस्तुतः कभी-कभी यह भी कहते थे कि पूर्ण योगी यदि चाहे तो खोये हुए विशेष को वापस ला सकता है। [२०] तथापि इस धारणा में उन्हें एक कठिनाई दिखाई देती है : धर्म के विगत हो जाने पर क्रम नहीं रहता जिससे विगत को लौटा कर लाया नहीं जा सकता। यहाँ कहना आवश्यक है कि स्वयं कालिक क्रम सृष्टि-विधान के रूप में कर्म पर आश्रित रहता है। परिणामस्वरूप योगी की इच्छा ईश्वरेच्छा को चुनौती नहीं दे सकती। किन्तु इससे विगत वस्तु की पुनरावृत्ति का निषेध नहीं होता।

सांख्य की दृष्टि से कार्य-कारण सिद्धान्त और कुछ नहीं अपितु प्रकृति-विकृति-भाव मात्र है — अव्यक्त, सामान्य सत् से विशेष रूप का आविर्भाव। यहाँ उपादान एवं निर्मित कारण के भेद को भुला दिया गया है किन्तु भोग और अपवर्ग के रूप में परम कारण को स्वीकार किया गया है। प्रकृति का परिणाम अंततः पुरुष के अपवर्ग के लिए होता है। प्रकृति में गुणों की गति अंतर्निहित रहती है और उसमें अनंत रूपों की संभावना होती है। कोई भी विशिष्ट रूप अथवा धर्म तब प्रकट होता है जब किसी कर्म विशेष की क्रिया उसकी बाधा को हटा देती है। सृष्टि की प्रक्रिया और आत्मा की सिद्धि की प्रक्रिया एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

एक ही प्रकृति अथवा परम धर्मी किस प्रकार अनंत रूपों (विकृतियों, धर्मों) को जन्म देती है? इसका समाधान कविराज क्रम की अत्यन्त सूक्ष्म एवं कठिन संकल्पना प्रस्तुत करके करते हैं। 'क्रम एक धर्म और दूसरे धर्म के बीच सापेक्ष क्रम है।' यह (क्षणानंतर्यात्मा) क्षणों का क्रम हैं। इस प्रकार, उत्पन्न वस्तुओं में दिखाई देने वाली विविधता का कारण कर्मों के संचित फल को, गुणों की गति से निर्मित अदृश्य क्रमों को, कहा जा सकता है।

सांख्य दर्शन की इस व्याख्या में बल पुरुष और प्रकृति के द्वैत पर नहीं दिया गया है, न ही प्रकृति की तथाकथित जड़ता पर, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार न्याय वैशेषिक की व्याख्या में बल प्रमाणों या पदार्थों पर नहीं दिया गया है। बल दिया गया है कारणत्व — सत्कार्यवाद या असत्कार्यवाद पर — इसके संसृतिशास्त्रीय निहितार्थों की भाँति, इनमें भी संसार के सृजन की संपूर्ण प्रक्रिया और क्रम को आध्यात्मिक बंधन एवं मुक्ति की समस्या से जोड़ा गया है जिसका अनुसंधान करते हुए वह इसके कारणों तक पहुँचता है। इस प्रकार यह आध्यात्मिक खोज दार्शनिक

अन्वेषण का स्रोत बन जाती है, और हेतुक प्रक्रिया एवं इसकी गतिविधि मानव जीवन में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लेती है।

अपनी व्याख्याओं में एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न होने पर भी न तो सांख्य न ही न्याय वैशेषिक कारणत्व या हेतुकता के यथार्थ पर संदेह करता है। दोनों की आध्यामित्मक खोज का लक्ष्य अनंत के धरातल पर स्थित है फिर भी उनका विश्लेषण बड़ी सीमा तक लौकिक संसार पर केंद्रित रहता है। न्यायवैशेषिक सहज ज्ञान की वस्तुओं के स्पष्ट यथार्थ की अवहेलना नहीं करना चाहता और सांख्य इस बात पर बल देता है कि समस्त प्रत्यक्ष वस्तुओं को प्रकृति की अदृश्य एकता आच्छादित किए है। इस भेद का सम्बन्ध सांख्य एवं योग की पारस्परिक निकटता से जोड़ा जा सकता है। इन प्रणालियों के विपरीत, कतिपय अद्वैतवादी प्रणालियों में हेतुकता और उस पर आश्रित लौकिक संसार की वास्तविकता पर संशय किया गया है। अद्वैतवादी दर्शन की सबसे महत्त्वपूर्ण परंपरा वेदांत में दिखाई देती है।

यद्यपि जापानी एवं बांग्ला भाषाओं में वेदांत का विस्तृत इतिहास मिलता है और जर्मन एवं अंग्रेज़ी जैसी अन्य भाषाओं में इसके संक्षिप्त विवरण भी प्रकाशित हुए हैं, फिर भी हिन्दी में लिखा हुआ कविराज का वेदांतिक चिंतन के विकास का संक्षिप्त विवरण [२१] अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। वे न केवल महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक विषयों की चर्चा करते हैं अपितु उसी जैसे एवं प्रतिद्वंद्वी प्रणालियों के विस्तृत संदर्भ में भी वेदान्त की चर्चा करते हैं, और इस विषय में चर्चा करने का अधिकारी कविराज से बढ़ कर अन्य कोई नहीं है। जैसा कि सर्वविदित है, वेदांती चिंतन को बादरायण ने अपने वेदांत सूत्रों में व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया है। इस ग्रंथ की प्राचीनता विवाद का विषय रही है। जेकोबी इसे पाँचवीं शती ई. की रचना मानते हैं। कविराज इस धारणा को प्रामाणिक नहीं मानते क्योंकि यह धारणा मानकर चलती है कि इसमें जिन प्रतिद्वंद्वी प्रणालियों की आलोचना की गई है वे अपनी परिपूर्ण अवस्था को प्राप्त कर चुकी थीं। मूल धारणाओं की चली आ रही परंपरा एवं उनके व्यवस्थित प्रतिपादन के बीच अन्तर किया जाना चाहिए। वस्तुतः भारत की प्राचीन दार्शनिक प्रणालियों के विकास में तीन चरण स्पष्ट देखे जा सकते हैं। आरंभिक चरण में एक विशिष्ट दृष्टिकोण होता था जिसमें कतिपय मूलभूत विचार होते थे जो अति प्राचीन काल से चले आ रहे थे। बाद में उन्हें सूत्रों में व्यवस्थित रूप से प्रतिपादित किया गया। आगे चल कर इसमें व्याख्यात्मक एवं शास्त्रार्थपूर्ण टिप्पणियों एवं गौण टिप्पणियों के माध्यम से विस्तृत विकास हुआ। वेदान्त की मूल परंपरा उपनिषदों तक जाती है और वेदान्त सूत्रों में उपनिषदीय धारणाओं को व्यवस्थित किया गया है जिनकी पहले ही अनेक दृष्टिकोणों से व्याख्या की जा चुकी थी। कविराज का विचार है कि पाराशर्य के जिन

भिक्षुसूत्रों का उल्लेख पाणिनि करते हैं वे बादरायण के वेदान्तसूत्र हो सकते हैं। इस धारणा को स्वीकार करने में यह कठिनाई है कि **तर्कपाद** में वाममार्गी धारणाओं का उल्लेख मिलता है। सांख्य का जो उल्लेख है उसका तात्पर्य ईश्वरकृष्ण की **सांख्यकारिका** से हैं अथवा किसी प्राचीन सांख्य परंपरा मात्र से? इनमें से कविराज बादवाले विकल्प को ही अधिक स्वीकार्य मानते हैं। वैसे भी ईश्वरकृष्ण ने तो एक प्राचीन परंपरा का सार ही प्रस्तुत किया था। वैशेषिक का उल्लेख भी कोई गम्भीर कठिनाई उत्पन्न नहीं करता क्योंकि इसके प्राचीन प्रणाली होने में कोई संदेह नहीं है। फणिभूषण तर्कवागीश की मान्यता ध्यान देने योग्य है कि कौटिल्य के **अर्थशास्त्र** में सांख्य और योग का जो उल्लेख मिलता है उसका तात्पर्य सांख्य और वैशेषिक (= योग) से रहा हो, जिससे उनकी प्राचीनता सिद्ध होती है। [२२] पाशुपत एवं पांचरात्र का उल्लेख भी प्राचीन प्रणालियों को दर्शाता है जैसा कि महाभारत के उल्लेख से प्रमाणित है और मेगस्थनीज़ भी इसकी साक्षी देता है। कठिनाई तो तब उत्पन्न होती है जब जैन और बौद्ध धर्मों का उल्लेख मिलता है, विशेष रूप से सर्वास्तिवाद एवं विज्ञानवाद के बौद्ध चिंतन का, और कदाचित् शून्यवाद का भी। कविराज का कहना है कि इन चिंतन धाराओं की मूल संकल्पनाएं भी अति प्राचीन हैं और **कथावत्थु** और पाली एवं अर्धमागधी के धार्मिक ग्रंथों में भी मिलती हैं। फिर भी इससे **भिक्षुसूत्रों** एवं **शारीरकसूत्रों** को एक मानने में कठिनाई तो होती है। कविराज की धारणा में इतना और जोड़ा जा सकता है कि संभव है **भिक्षुसूत्र शारीरकसूत्रों** के प्राचीन या मूल रूप रहे हों जिनमें तर्कपाद का शास्त्रार्थ या तो नहीं था या बहुत कम था। तब कदाचित् वर्तमान वेदांतसूत्रों को किसी प्राचीन रचना का परिवर्धित एवं संशोधित रूप माना जा सकता है।

जिन बौद्ध चिंतन प्रणालियों का उल्लेख बादरायण करते हैं, उनमें सर्वास्तिवाद अट्ठारह निकायों में से एक है जिनका उदय बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् हुआ। इन संप्रदायों का उदय प्राचीन धर्मग्रंथों की सार-रूप धारणाओं की व्याख्या के फलस्वरूप हुआ और अशोक के समय तक वे प्रचंड शास्त्रार्थ में जुट गए थे। बादरायण द्वारा शून्यवाद एवं विज्ञानवाद का उल्लेख किए जाने से यह धारणा बनी कि तब तक नागार्जुन, मैत्रेयनाथ और असंग उन्हें व्यवस्थित रूप प्रदान कर चुके थे। कविराज का इस धारणा पर संशय करना उचित ही है। कविराज के मत की पुष्टि में यह भी कहा जा सकता है कि वेदांतसूत्र में दो बौद्ध चिंतन प्रणालियों के बीच स्पष्ट भेद होने का प्रमाण नहीं मिलता, न ही विकसित विज्ञानवाद की बारीकियों अथवा शून्यवाद के उससे पृथक होने का कोई प्रमाण मिलता है। जिस सामान्य धारणा की इसमें आलोचना मिलती है वह तो परवर्ती आचार्यों [२३] के शास्त्रग्रंथों की अपेक्षा पूर्ववर्ती महायानसूत्रों के अंश ही अधिक प्रतीत होते हैं। और जैसा कि कविराज ने दर्शाया है इस प्रकार

की धारणाओं के बीज तो प्राचीन धर्मग्रंथों में मिलते ही हैं।

फिर भी जिज्ञासु इतिहासकारों के मन में उचित रूप से एक प्रश्न तो उठता ही है। यदि इन सूत्रों की जो व्याख्या शंकर ने **तर्कपाद** में दी है वह ठीक है तो उसमें तो यह मान कर चला गया है कि तब तक बौद्ध चिंतन का तर्कशास्त्र पर्याप्त प्रौढ़ हो चुका था। तथापि, यह संभव है कि पूर्वपक्ष की स्थापना करते समय शंकर ने बौद्ध चिंतन की बाद की अवस्था को ही ध्यान में रखा हो जिससे सूत्रकार स्वयं परिचित नहीं रहा हो।

जैसा कि पहले कहा गया है, बादरायण वेदान्त चिंतन की अनेक पूर्वावस्थाओं का उल्लेख करते हैं जैसे कि बादरि, आश्मरथ्य, आत्रेय, काशकृत्स्न, ओडुलोमि, कार्ष्णाजिनि और जैमिनि। स्वयं बादरायण की धारणा के सम्बन्ध में थिबॉ का मत है कि वह शंकर की धारणा से भिन्न है। कविराज के अनुसार रामानुज और भास्कर भी पहले यह मत प्रकट कर चुके हैं और वे शंकर पर सूत्रकार के मंतव्य का अतिक्रमण करने का आरोप लगाते हैं : साथ ही कविराज शांडिल्य का भी उल्लेख करते हैं जो बादरायण को अद्वैतवादी मानते हैं।

बादरायण के पश्चात् अनेक महान् आचार्यों ने उनके सूत्रों को परिभाषित करने का प्रयास किया। इनमें प्रमुख हैं भर्तृप्रपंच, ब्रह्मनंदी, टंक, गुहदेव, भारूचि, कर्पदिक, उपवर्ष, भूर्तृहरि, बोधायन, सुंदरपांड्य, द्रमिड़ाचार्य और ब्रह्मदत्त। ऐसा प्रतीत होता है कि भर्तृप्रपंच ने **कठोपनिषद्** और **बृहदारण्यक** पर टीकाएं लिखी थीं और उन्हें ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद का प्रवर्तक माना जाता है। यह सिद्धान्त इस आध्यात्मिक आस्था पर आधारित है कि सत् ब्रह्म के रूप में एक और संसार के रूप में अनेक होता है। सहज ज्ञान का अवबोध भी बहुत्व को सिद्ध करता है और सहज ज्ञान अवबोध ज्ञान का एक प्रामाणिक साधन है। दूसरी ओर सत्य के ऐक्य का ज्ञान वेदों के दिव्य ज्ञान के माध्यम से ही होता है। शबर श्रद्धापूर्वक उपवर्ष का नाम लेते हैं और रामानुज बोधायन को अपना आदर्श मानते हैं। ब्रह्मनंदी और टंक को वाक्यकार माना जाता था। ब्रह्मदत्त अद्वैतवादी थे किन्तु वे जीव को नश्वर मानते थे जो ब्रह्म से उत्पन्न होकर अंततः ब्रह्म में ही लीन हो जाता है। किन्तु वे मुक्ति के लिए कर्म और उपासना को आवश्यक मानते थे। मंडन मिश्र इस बात में उनके अनुयायी प्रतीत होते हैं 'शाब्दिक ज्ञान से प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं मिल सकता।' सुंदरपांड्य अद्वैतवादी थे और शंकर उनका उल्लेख करते हैं। स्पष्ट है कि वे शैव थे और उनकी गणना नयनारों में की जाती थी।

इन प्राचीन विद्वानों एवं टीकाकारों की रचनाएँ लुप्त हो चुकी हैं और कुल मिलाकर वेदान्त दर्शन की परंपरा सही अर्थों में शंकर से ही आरंभ होती है जो अपने

पूर्ववर्तियों पर छा गए। शंकर के काल के सम्बन्ध में भी बड़ा विवाद रहा है। सामान्यतः उनका काल ७८८-८२० ई. माना जाता है किन्तु यह सर्वमान्य नहीं है। उदाहरण के लिए, प्रो. नाकामुरा शंकर का समय इससे पूर्व मानते हैं। वे शंकर द्वारा धर्मकीर्ति से उद्धरण 'सहोपलम्भनियमादभेदो', और दिङ् नाग से उद्धरण यद् 'अन्तर्ज्ञेय-रूपम्' तत् का हवाला देते हैं। इन उद्धरणों से अनुमान होता है कि शंकर आठवीं शती ई. के आरंभ में कभी हुए होंगे। X XX 505 B.C

इस सम्बन्ध में भी बड़ा विवाद है कि शंकर पर महायानी अद्वयवाद का कितना प्रभाव है। कविराज को महायान और शंकर के बीच इस सम्बन्ध का पूरा ज्ञान था। गौड़पाद की कारिकाओं में माध्यमिक संप्रदाय के विचारों एवं बौद्ध तकनीकी पदों की भरमार है। कुछ कारिकाओं में तो नागार्जुन ही प्रतिध्वनित होते हैं। भ्रमवाद की संकल्पना एवं व्यवहार और परमार्थ की धारणाओं के बीच भेद का स्पष्ट प्रतिपादन सर्वप्रथम बौद्ध विचारकों ने ही किया। तथापि कविराज इस विचार से सहमत नहीं हैं कि शंकर का अद्वैत बौद्ध दर्शन पर आधारित है। निस्संदेह शंकर को अपनी पूर्ववर्ती एवं समकालीन अद्वैतवादी धारणाओं का ज्ञान था किन्तु उनके सिद्धान्त मुख्यतः पूर्ववर्ती औपनिषदिक परंपरा से ही व्युत्पन्न हैं, जिसका प्रभाव बौद्ध दार्शनिकों पर भी बताया जाता है। उल्लेखनीय है कि एम. एम. विधुशेखर भट्टाचार्य ने गौड़पाद पर बौद्ध दर्शन के प्रभाव को बड़े विस्तृत रूप से दर्शाया है। तथापि, इसमें संदेह है कि **माण्डूक्योपनिषद्** अथवा इसकी कारिकाओं पर भाष्य लिखने वाले शंकर ही थे। शंकर के अद्वैत का मूल उपनिषदों में होना तो निर्विवाद है किन्तु इस तथ्य को नकारना कठिन है कि बौद्धों के भ्रमवाद और दो दृष्टिकोणों के सिद्धान्त ने उन्हें प्रभावित किया था। वस्तुतः शांतरक्षित, जिनका समय शंकर से बहुत भिन्न नहीं था, वेदान्त के विषय में अच्छी धारणा रखते थे और इसके सम्बन्ध में उन्हें यही शिकायत थी कि शाश्वत को पकड़े रहना इसकी भूल है (नित्यतोक्तितः)। वेदान्ती और बौद्ध अद्वैतवाद में वास्तविक अन्तर यही है कि आत्मा के सिद्धान्त को इनमें एक सा महत्त्व नहीं दिया गया है।

शंकर के शिष्यों में सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं, सुरेश्वर और पद्मपाद। आम धारणा सुरेश्वर और मंडन मिश्र को एक ही मानती है जो सत्य नहीं है किन्तु कादिचत् सुरेश्वर और विश्वरूपाचार्य एक ही व्यक्ति थे। पद्मपाद अपनी रचना **पंचपादिका** के लिए विख्यात हुए जो चिंतन की विवरण प्रणाली का आधार बनी। त्रोटकाचार्च और हस्तामलक भी शंकर के शिष्य थे किन्तु उनके सम्बन्ध में अधिक ज्ञात नहीं है।

कविराज शंकर के योगदान का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार देते हैं — 'पांडितत्यपूर्ण शास्त्रार्थ में शंकर अपनी प्रतिद्वंद्वी चिंतन-पद्धतियों पर छा गए और उन सब पुनीत स्थानों को पुनः स्थापित किया जिन्हें छीन लिया गया था। उन्होंने उपनिषदों के रहस्यों

के समझने एवं वैदिक आस्था का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने और उनके शिष्यों ने अपनी रचनाओं में वेदों और उपनिषदों के सिद्धान्तों की सही व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने ऐसी व्यवस्था की कि संपूर्ण देश में लोग उनके उपदेशों का सार ग्रहण कर सकें। श्री विद्यार्णव के मतानुसार शंकर ने जिस प्रकार संन्यासियों को शुद्ध ज्ञान का मार्ग दिखाया उसी प्रकार उन्होंने संसारियों को भक्ति का मार्ग दिखाया। पहले बौद्धों ने भी ऐसी ही व्यवस्था की थी। इसके अतिरिक्त बौद्धों की भाँति शंकर ने संन्यासियों को मठानुसार श्रेणीबद्ध किया और देश के चारों कोनों में चार केंद्र स्थापित किए। ज्योतिर्मठ या जोशीमठ जो बदरिकाश्रम के पास है, द्वारकाधाम में शारदामठ, रामेश्वर क्षेत्र में श्रृंगेरी मठ और पुरुषोत्तम क्षेत्र में गोवर्धनमठ। इन चारों केंद्रों में उन्होंने अपने चार शिष्यों, त्रोटकाचार्य, हस्तामलक, सुरेश्वर और पद्मपाद, को अपने प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त किया।' इन मठों के नियंत्रण में आने वाले भौगोलिक क्षेत्रों का चुनाव बड़ी सावधानीपूर्वक किया गया था। 'इस संगठन का लक्ष्य था वेदान्त के संरक्षण में मठ के केन्द्रों के निर्देशानुसार वर्णाश्रम व्यवस्था को सुरक्षित रखना। मठ के अधिकारियों का मुख्य कार्य था अपने क्षेत्र में अनुयायियों को वर्णाश्रम धर्म की शिक्षा देना और उन्हें अपने चुने हुए मार्ग का अनुसरण करने में सहायक होना। शंकर के प्रतिनिधि होने के कारण ये मठाधीश शंकराचार्य कहलाए।'[२४] महान् आचार्य द्वारा रचित [२५] पदों में शंकराचार्यों के कर्तव्यों एवं प्रकार्यों का निर्देश दिया गया है। शंकराचार्यों को अपने निर्दिष्ट क्षेत्र में भ्रमण करना पड़ता था और लोगों को यह निश्चित करने की सलाह दी गई थी कि केवल उच्च योग्यता प्राप्त विद्वान् एवं चरित्रवान् व्यक्ति ही शंकराचार्य के पद पर आसीन हो सकें।

क्योंकि शंकर के अद्वैत में केवल नित्य को ही सत् माना गया है, हेतुकता और काल के संसार को अंततः सत् नहीं माना जाता। बौद्ध, जो हेतुकता को यथार्थ या व्यावहारिक यथार्थ का सार ही मानते हैं, यह तो स्वीकार करते हैं कि ऐसा यथार्थ अंततः छद्म-सत् ही होता है किन्तु वे नित्य सत्ता को किसी भी अर्थ में सकारात्मक सत्ता स्वीकार नहीं करते। माध्यमिकों की दृष्टि में परम सत्ता पूर्णतः अपरिभाष्य है और स्वीकार एवं नकार से परे हैं। योगाचार तो इस संपूर्ण दृश्यमान जगत को विज्ञान अथवा चित्त का परिणाम मानते हैं। इन सिद्धान्तों एवं शंकर के अद्वैत में आंशिक साम्य है। शांकर अद्वैत में भी ब्रह्म को चिद्रूप एवं समस्त संसार को उसका आभास माना जाता है जो अज्ञानजनित है और इस कारण मूलतः असत् है। तथापि अद्वैत में ब्रह्म और विज्ञान के बीच स्पष्ट भेद किया गया है — ब्रह्म को अंनत चिद्रूप और चित्त अथवा विज्ञान को दृग्विषयक चेतना माना गया है। यद्यपि अद्वैत ब्रह्म को परिभाषित अथवा विषयीकृत करना अस्वीकार करता है, फिर भी वह संशयवाद या शून्यवाद नहीं है क्योंकि वह 'नाप्रज्ञम् आत्मा' को ब्रह्म मानता है। अद्वैत दार्शनिक

अन्वेषण का यह आरंभिक बिन्दु ही, जो उसके लक्ष्य को भी इंगित करता है उसे माध्यमिकों से अलग करता है। शंकर का अद्वैत उनके दर्शन को सांख्य और वैशेषिक से भी स्पष्टतः भिन्न दर्शाता है। पाशुपत और पांचरात्र दर्शन वाममार्गी होने के साथ ही यथार्थ के मूल में भी कर्म और शक्ति का सिद्धान्त देखते हैं। उनकी मान्यता है कि ईश्वर सचमुच सृष्टि की रचना करता है और मुक्ति के लिए पूजा-अर्चना का यथार्थ कर्म आवश्यक है। शांकर दर्शन में ब्रह्म में कर्म एवं हेतुकता के परम सत् की या मुक्ति के लिए कर्म की आवश्यकता को स्वीकार नहीं किया गया है। क्योंकि बंधन अज्ञानजन्य है, मुक्ति को शाश्वत रूप से प्राप्त किया जा सकता है जिसके लिए केवल ज्ञान की आवश्यकता है। जैन दर्शन भी स्वयं को मूलतः क्रियावाद का ही एक रूप मानता है और मीमांसा तो कर्म के सिद्धान्त का पक्षधर है ही। अतः इन दर्शनों से अद्वैतवाद की भिन्नता स्पष्ट है। कहा जा सकता है कि सत् को अनंत के परिप्रेक्ष्य में, शाश्वत परम सत्ता के रूप में कल्पित करके शांकर अद्वैत समस्त दृश्यमान सत्ता को आभास मात्र घोषित कर देता है।

इस धारणा का सार ज्ञान और कर्म के बीच किए जाने वाले भेद में निहित है। ज्ञान किसी भी वस्तु को उसके स्वाभाविक स्वरूप में दर्शाता है और कोई भी वस्तु वह नहीं हो सकती जो वह स्वभावतः नहीं है। न तो ज्ञान यथार्थ को बदल सकता है न ही यथार्थ अपने स्वरूप को। स्वयं ज्ञान भी अपने यथार्थ स्वरूप अथवा परम साक्षी होने की क्षमता को नहीं बदल सकता। ऐसा समझा जाने पर स्वाभाविक रूप से ज्ञान शाश्वत आत्म-चेतना की एकमात्र परम सत्ता होता है। यथार्थ सत्ता के स्तर पर परिवर्तन, नानात्व और कर्म नहीं रहते। सामान्यतः इस धारणा को इस अर्थ में लिया जाता है कि ब्रह्म अतींद्रिय है, जिसमें संसार का मिथ्या प्रत्यय रूप सन्निहित है, और 'आत्मा' दोनों को जोड़े रहता है।

शंकर एवं उनके आत्मा सम्बन्धी वेदांती सिद्धान्त के प्रति गहरी श्रद्धा होते हुए भी कविराज कतिपय शैव एवं शाक्त दर्शनों के कर्मवादी अद्वैतवादी सिद्धान्तों की ओर अधिक आकृष्ट हुए। वस्तुतः उनकी तो मान्यता थी कि शंकर श्रीविद्यासंप्रदाय से जुड़े थे जैसा कि उनकी **श्रीविद्यार्णव, सौंदर्यलहरी** इत्यादि रचनाओं एवं श्रृंगेरी मठ में श्रीचक्र के पूजा विधान से स्पष्ट होता है। शिवाद्वैत से शंकर का सम्बन्ध उनके **दक्षिणामूर्तिस्तोत्र** से स्पष्ट है। ऐसा प्रतीत होता है कि शंकर के महान् भाष्यों का मूल लक्ष्य वेदान्त परंपरा को मीमांसा से प्रभावित व्याख्याओं से मुक्त करना था। साथ ही वे विभिन्न वाममार्गी दर्शनों से वेदान्त की रक्षा भी करना चाहते थे। इन भाष्यों में संसृतिशास्त्र अथवा पूजाविधान की अपेक्षाकृत अवहेलना की पूर्ति **सौंदर्यलहरी** और **दक्षिणामूर्तिस्तोत्र** जैसी रचनाओं में की गई है। यह ध्यान देने योग्य है कि ये रचनाएं निश्चित रूप से

'शैव एवं शाक्त तांत्रिक दर्शनों से प्रभावित हैं। शांकर अद्वैत की सामान्य व्याख्या दर्शाती है कि पूर्ण योग्य पात्र और जिज्ञासु महावाक्यों का श्रवण करके आत्मज्ञान प्राप्त करे और संसार का अतिक्रमण करके ब्रह्म में लीन हो। अपूर्ण योग्यता वालों के लिए तर्कबुद्धिपरक प्रयासों, यहाँ तक कि पूजा अर्चना एवं सामाजिक धार्मिक कृत्यों का करना आवश्यक है। कविराज ऐसी धारणा से सहमत नहीं हैं। यह तो शांकर अद्वैत का अत्यंत सरलीकृत सार प्रस्तुत करना है और इसमें 'मोक्ष सम्बन्धी अहंकार' भी है। वे सर्वमुक्ति के सिद्धान्त को वेदान्त का वास्तविक सिद्धान्त मानते थे जिसमें एकजीववाद निहित है। ज्ञानी व्यक्ति 'ब्रह्म में लीन' होने के स्थान पर अन्य लोगों तक भगवद्प्रसाद पहुँचाने का माध्यम बनता है। न ही ज्ञान दिव्य ज्ञान का क्षणिक एवं अन्तिम निदर्शन है जो कपूर की लौ की भाँति क्षण भर प्रज्वलित होकर बुझ जाता हो। संप्रज्ञात समाधि की अवस्था में सतत् ज्ञान भौतिकता को रूपांतरित करने वाला होता है।[२५] इन धारणाओं का विस्तृत विवरण आगे दिया जाएगा।

कश्मीरी शैव दर्शन ने भी कविराज को बहुत आकर्षित किया। यह दर्शन एक साथ ही एकात्मवादी और ईश्वरवादी, अद्वैतवादी और क्रियावादी है। इसका मूल सिद्धान्त यह है कि चेतना अथवा संवित् प्रकाश और विमर्श, निष्क्रियता और सक्रियता, साक्षी और सृजनशीलता का समवेत है। चेतना का मूल केवल निष्क्रियता में नहीं है जैसा कि सांख्य के पुरुष अथवा वेदान्त के ब्रह्म में माना गया है, अपितु वह इसके अपने लक्ष्य को निर्धारित करने अथवा उसका निर्माण करने की सहज क्षमता में है। संवित् की आत्मपुष्टि ही विमर्श है। चेतना के इस प्रकाश के अनंत आत्मनिर्धारण में समस्त वस्तुएं निहित होती हैं। परम शिव ही संवित् हैं जिससे समस्त ब्रह्मांड एकाकार है। शिव एक साथ ही समस्त संसार में व्याप्त भी हैं और इससे परे भी हैं। उनकी सहज आत्माभिव्यक्ति ही सृष्टि है।

सृष्टि की प्रहेलिका की व्याख्या करने में शांकर अद्वैत को कठिनाई का सामना करना पड़ता है। सृष्टि के सत् न होने का आधार अनादि अज्ञान है, किन्तु वास्तव में ऐसा कहना समस्या से पलायन करना है। जब ब्रह्म ही एकमात्र सत् है तो अज्ञान उत्पन्न कैसा होता है? माया सदसदविलक्षण कहीं जाती है किन्तु इससे तो अद्वैत समझौते की स्थिति में पड़ जाता है। शंकर के अनुसार तो ईश्वरत्व भी अज्ञान से जुड़ा हुआ है। इस प्रकार सृष्टि तो भ्रांति होकर रह जाती है। बौद्धों ने इस धारणा का बहुत विस्तार किया। शंकर का कथन है : 'ईश्वर का उपास्यत्व, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता अज्ञान के अतात्त्विक गुणों के कारण ही अवधारण से जुड़े हुए हैं। यथार्थ में जब ज्ञान समस्त अज्ञान-जनित अतात्त्विक गुणों को समाप्त कर देता है तो आत्मा के संदर्भ में उपास्य और उपासक, सर्वज्ञता इत्यादि की बात युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती (न

परमार्थतोविद्यायापास्त सर्वोपाधिस्वरूप आत्मनीशित्रीशतव्य-सर्वज्ञत्वादि व्यवहार उपपद्यते। **वेदांतभाष्य** (२/१/१४) किन्तु **दक्षिणामूर्तिस्तोत्र** (v.१०) में शंकर स्पष्ट रूप से ईश्वर की शाश्वत उपास्यता और शक्ति की बात करते हैं जिसका आगे चलकर सुरेश्वर ने विस्तार किया। शंकर के इस अल्पज्ञात पक्ष का ही शैव अद्वैत से सामंजस्य है। सृष्टि का मूल है शिव की अनिवार्यतः स्वतः स्फूर्त वृत्ति या स्वातंत्र्य। सृष्टि शिव के अनंत आत्माविर्भाव के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

यहाँ दो प्रश्न उठते हैं। एक तो यह कि क्या शंकर **वेदान्तसूत्र** के अपने प्रसिद्ध भाष्य में और **दक्षिणामूर्तिस्तोत्र** में दो भिन्न धारणाएं प्रस्तुत करके अपने चिंतन में अंतर्विरोध नहीं दर्शाते? **स्तोत्र** को प्रामाणिक मान लें तब भी क्या इसे प्रचलित धारणा की अभिव्यक्ति नहीं माना जाना चाहिए जो भक्ति भाव के अधिक अनुकूल है? वस्तुतः कहा जा सकता है कि भाष्य की रचना शास्त्रार्थ के विशिष्ट दृष्टिकोण से की गई थी जिसका लक्ष्य था तार्किक स्तर पर सृष्टिवाद के विरुद्ध उठाई गई बौद्धों की आपत्तियों का निराकरण करना। अध्यात्म के जिज्ञासुओं के लिए यह स्वीकार करना कठिन होता कि पारमार्थिक सत्य के विविध रूप प्रबुद्ध भक्ति की अपेक्षा तार्किक स्तर पर अधिक समीचीन रूप से अभिव्यक्त हो सकते हैं।

दूसरा प्रश्न है — ईश्वर के परमैक्य एवं शाश्वत आत्मपूर्णता से सृष्टि का आरंभ कैसे हो सकता है? परिमिति अथवा सीमा के बिना सृष्टि सम्भव ही कैसे है। यदि चेतना ही समस्त वस्तुओं का बीज है और सत् केवल एक ही दिव्य चेतना है तो सीमित वस्तुओं का द्रष्टा कौन है? जीव निर्माण की सीमा कौन निर्धारित करता है? एक, अनन्त दिव्य जीव से सीमित जीव किस प्रकार उत्पन्न होते हैं और किस प्रकार वे अपने आपसे बाहर स्थित सीमित वस्तुओं को देखने के भ्रम में पड़ते हैं? शैवों का उत्तर है कि ईश्वर स्वयं अपनी स्वतंत्र इच्छा से मानो लीला में अपने आपको सीमित करता है जबकि वह स्वयं शाश्वत रूप से असीम रहता है। यह आत्म-संकोचन अथवा आणव मल अनित्य जीवों की रचना करता है जो तब माया के वशीभूत हो जाते हैं, जो एक साथ ज्ञानशास्त्रीय दृष्टि से अतीन्द्रिय भ्रान्ति और ब्रह्मांडशास्त्रीय दृष्टि से प्रकृति में व्याप्त ईश्वर की सृजनात्मक शक्ति, दोनों ही है। इस स्तर के नीचे तत्त्व होते हैं जैसा कि सांख्य में दर्शाया गया है। प्रवासी जीव पर, जो पहले ही आणव और माया के अधीन था, अब कर्मों का आवरण भी चढ़ जाता है, जो तीसरे प्रकार का मल अथवा सीमा है। इस प्रकार सृष्टि का शैव सिद्धान्त शुद्धाध्वा (शुद्ध क्षेत्र) के स्वेच्छया आत्मसंकोच के सिद्धान्त को अशुद्धाध्वा (अशुद्ध क्षेत्र) में संकल्पवाद से मिलाता है जो कि माया के अधीन है। दैवी आत्मसंकोचन द्वारा सृष्टि की रचना की तुलना किसी अभिनेता के स्वेच्छा विभिन्न पात्रों की भूमिका निभाने से की जा सकती

है। यहाँ तक कि अज्ञान भी ईश्वर के स्वातंत्र्य की ही अभिव्यक्ति है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सूर्य स्वयं को आच्छादित करने के लिए बादलों की सृष्टि करता है। ईश्वर का स्वातंत्र्य एक साथ ही ज्ञान और कर्म है, पूर्णाहंता की पराकाष्ठा।

दर्शन की इस प्रणाली में अद्वैत का तात्पर्य है चेतना के दो पक्षों का शाश्वत सामरस्य जिन्हें अमूर्त रूप से शिव और शक्ति के रूप में दर्शाया गया है और जो छत्तीस तत्त्वों में प्रथम दो हैं। शिव में प्रकाश का प्राधान्य है और शक्ति में विमर्श का, किन्तु प्रत्येक दूसरे में सुषुप्तावस्था में रहता है। इनकी पूर्ण युति से सर्वोच्च सिद्धान्त की रचना होती है, जो एक साथ ही अतीन्द्रिय एवं अन्तर्व्यापी होता है।

अद्वैत की इस अवधारणा से आध्यात्मिक साधनों के रूप में ज्ञान और भक्ति का सायुज्य सम्भव है। परम सिद्धान्त न केवल ज्ञान अपितु आनन्द भी है, भक्ति का स्रोत है रस, पूजा और अनुष्ठान भक्ति की आरम्भिक अवस्था है। तब तक भक्त भगवान् में एकाकार नहीं होता। तथापि, इस ज्ञान का उदय हो जाने पर भी भक्ति समाप्त नहीं होती। अब भक्त भगवान् को स्वयं अपने परम रूप की भाँति प्रेम करने लगता है, ऐसा रूप जिस पर वह आश्रित हो सकता है। यदि ज्ञान शान्त भाव और निष्ठा की ओर ले जाता है, तो वह दास्य भाव का आधार भी तैयार करता है। आश्रित होने की यह भावना शैव भक्ति का लक्षण है। इसमें ईश्वर प्रेम ऐसी सायुज्य भावना के भीतर होता है जो लीलामय भेद और द्वैत के झीने आवरण से आवेष्टित रहती है। ज्ञानोदय के पूर्व द्वैत भ्रमकारक होता है। ज्ञान प्राप्ति के बाद जब प्रेम के लिए कल्पना से उसकी रचना की जाती है तो द्वैत की भावना अद्वैत से अधिक सुन्दर होती है। जब सामरस्य का आनन्द उत्पन्न हो जाता है तो द्वैत की भावना आत्मा और परमात्मा के लिए मकरंद की भाँति आनन्ददायी होती है ठीक उसी अनुभूति की भाँति जैसी कि प्रणयी युगल को होती है।[२६]

कविराज की मान्यता है कि शांकर अद्वैत का शैव और शाक्त परम्परा से आन्तरिक सम्बन्ध रहा है। उनका यह भी कहना है कि कश्मीरी शैव दर्शन का मूल दोहरा है — वैदिक और आगम दोनों परम्पराओं में इसे देखा जा सकता है। निगम और आगम भारतीय आध्यात्मिक दर्शनों के दो स्रोत रहे हैं। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में **तैत्तिरीय संहिता** इत्यादि एवं **मालिनिविजय** इत्यादि का प्रभाव देखा जा सकता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन को यह नाम माध्वाचार्य ने अपने **सर्वदर्शनसंग्रह** में दिया है। त्रिक और स्पंद इस दर्शन के अन्य नाम हैं।

कविराज ने कश्मीरी शैव दर्शन और सूफी दर्शन के बीच कतिपय महत्त्वपूर्ण साम्य दर्शाएं हैं। सर्वविदित है कि सूफ़ीवाद के आधुनिक इतिहासकारों के दो भिन्न

सम्प्रदाय हैं जिनमें एक तो सूफ़ीवाद पर वेदांत का प्रभाव मानता है और दूसरा सम्प्रदाय नवप्लेटोवाद का। कश्मीरी शैव दर्शन से सूफ़ीवाद का साम्य दर्शा कर कविराज वेदांत के प्रभाव वाली धारणा को ही पुष्ट करते हैं।[२७] वेदांतिक प्रभाव सम्बन्धी धारणा पर सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि पारम्परिक वेदांत में तो प्रेम और आनन्दातिरेक के तत्त्वों का अभाव है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन इस रिक्ति की पूर्ति सरलतापूर्वक कर सकता है। इस दर्शन में दिव्य सौन्दर्य के आविर्भाव के रूप में सृष्टि की संकल्पना और प्रकाश की मुख्य भूमिका को एक दूसरे के समकक्ष रखा गया है।

यदि कश्मीरी शैव दर्शन शुद्ध रूप से अद्वैतवादी है तो शैव दर्शन के अन्य रूप भी हैं जिनमें भिन्न आध्यात्मिक दृष्टिकोण मिलते हैं। माध्वाचार्य प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अतिरिक्त नकुलीशपाशुपत, द्वैत शैव दर्शन और रसेश्वर दर्शन का भी उल्लेख करते हैं। दर्शन की एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रणाली वीरशैव दर्शन भी रहा है।[२८] कविराज का कहना है कि लिंगायत दार्शनिक, श्रीकांत और श्री वैष्णवों की भाँति विशिष्टाद्वैत के पक्षधर हैं। परिणामतः वे ब्रह्म को शक्तिसमन्वित मानते हैं। शक्ति का स्वरूप दोहरा है जिसमें प्रकाश अथवा चित् शक्ति और उसका प्रतिबिम्ब अथवा अचित् शक्ति दोनों ही समाहित रहते हैं। ये दो नाम एक ही मूल शक्ति के दो विरोधी पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं और इस प्रणाली में भौतिक वस्तु और आत्मा के बीच कोई अन्तर्भूत विरोध नहीं माना जाता। जीव और शिव का, अंग और लिंग का संगम भी पृथकों की एकता को दर्शाता है। वही उपासक है और वही उपास्य — वस्तुतः वह स्वयं अपने माध्यम से स्वयं उपासना ही है। अपनी समस्त गतिविधियों के साथ यह ब्रह्माण्ड उसके आत्मानन्द का ही आविर्भाव है, जो अगणित रूपों में प्रकट होता है।

शैव और वैष्णव दृष्टिकोणों में साम्य होते हुए भी ईश्वर से सम्बन्ध को लेकर दोनों धारणाओं में मतभेद है। सच्चा शैव भक्त और उपासक होता है, किन्तु प्रेमी हुए बिना वैष्णव नहीं हुआ जा सकता। शैव भक्ति में ऐश्वर्य की अनुभूति प्रधान रहती है जबकि वैष्णव भक्ति में दिव्य सख्य भाव की। शैव साधक को ईश्वर के माधुर्य का साक्षात्कार पिता, उपास्य अथवा गुरु के रूप में होता है, वैष्णव भक्त के लिए भगवान् सखा और प्रियतम है, और कभी-कभी बालक भी।

जहाँ शांकर अद्वैत सत्ता के शुद्ध एकात्मवादी अभिव्यक्ति का अनुभव है, सत्ता जो अतींद्रिय आत्मा के रूप में शुद्ध ज्ञान में प्रकाशित होती है, और शैव अद्वैत एक ऐसे संयुक्त अध्यात्म ज्ञानवादी एवं रहस्यात्मक अनुभव की अभिव्यक्ति है जिसमें ज्ञान और भक्ति एक हो जाते हैं, वहीं वैष्णव प्रणालियां अनिवार्यतः भक्तिपूर्ण और रहस्यात्मक होती है जहाँ भक्ति केवल साधन न रहकर साध्य हो जाती है। विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों — विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत, भेदाभेद के आध्यात्मिक विवेचन में विविधता

होते हुए भी यह मान्यता है कि जीवात्मा का सच्चा स्वरूप ईश्वर के प्रति उसकी पूर्ण निर्भरता में ही प्रकट होता है — ईश्वर जो अनन्त रूप से पूर्ण और आराध्य है। अज्ञान आत्मा में स्वतंत्रता और उसके सहगामी अहंवाद और सांसारिक एषणाओं के भाव को उत्पन्न करता है। ज्ञान इस मिथ्याहंकार का नाश करके आत्मा को ईश्वरोन्मुख करता है। साधना भक्ति, जिसमें अनुष्ठान, प्रार्थना, पूजा, धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन इत्यादि होता है, ईश्वर की कृपा से अज्ञान को दूर करने में सहायक होती है। इससे मिलने वाला ज्ञान अपने आप में अन्तिम लक्ष्य नहीं है। संसार के दुखों से आत्मा की मुक्ति तो एक नकारात्मक एवं उपान्तिम उपलब्धि मात्र है। प्रबुद्ध और मुक्त आत्मा केवल शान्त भाव प्राप्त कर ही सन्तुष्ट नहीं रह सकती। उसे अपने ऊपर व्याप्त उस दिव्य सत्ता की तीव्र अनुभूति होने लगती है जिस पर उसका सम्पूर्ण अस्तित्व आश्रित है। वह प्रेम पूर्वक उसकी उपासना करने के लिए प्रेरित होती है — **भजन्ते मां बुधा भाव समन्विताः** भक्ति के साथ भाव और रस की संकल्पनाओं का संयोग और पंचम पुरुषार्थ के रूप में भक्ति की अवधारणा वैष्णव दार्शनिक सम्प्रदायों की सर्वोत्तम उपलब्धियाँ रही हैं। साथ ही रामानुज एवं मध्व जैसे महान आचार्यों एवं उनके शिष्यों ने शंकर के अद्वैत और माया के सिद्धान्तों का प्रखर तार्किक प्रत्याख्यान भी किया।

वैष्णव भक्ति का मूल वैदिक और आगम दोनों ही प्रकार के साहित्य में मिलता है। **गीता** और **महाभारत** में इसकी आरम्भिक अवस्था मिलती है जो पांचरात्र आगमों में विकसित और आल्वारों द्वारा पोषित हुई। **भागवत** और **भक्ति सूत्रों** ने इसे प्रामाणिक स्वरूप प्रदान किया। नाथ मुनि ने आगमों की प्रमाणिकता स्थापित करने एवं आलवारों के उपदेशों को व्यवस्थित रूप प्रदान करने का प्रयास किया। रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ जैसे महान आचार्यों एवं गौड़ीय सम्प्रदाय के आचार्यों ने अपने-अपने सम्प्रदाय की पुष्टि में प्रामाणिक भाष्य, शास्त्रार्थ की रचनाएं और व्यवस्थित सार ग्रन्थ लिखे। कविराज ने इस आन्दोलन की रूप रेखा में इसकी प्राचीनता और सातत्य पर बल दिया और वेद एवं आगमों की परम्परा के प्रति इसके ऋण को दर्शाया है। इन आचार्यों के मध्य युग में होने का यह तात्पर्य नहीं है कि उन्होंने कोई नया आन्दोलन आरम्भ किया था। वे तो एक प्राचीन परम्परा को ही आगे बढ़ा रहे थे।

एक ओर सांख्य, न्याय वैशेषिक ओर अद्वैत वेदांत एवं दूसरी ओर ईश्वरवादी प्रणालियों के बीच एक भेद निरंतर लक्षित होता है जो कर्म और भगवत्कृपा के विवाद पर आधारित है। अधिक प्राचीन प्रणालियां मानव प्रारब्ध के उतार चढ़ावों का कारण कर्म बताती हैं। वेदांतसूत्रों में तो परमात्मा की सृष्टि ही कर्म से सम्बन्धित है। दूसरी ओर, ईश्वरवाद में ईश्वर के निर्हेतुक कटाक्ष पर अधिकाधिक बल दिया गया है। इसका आंशिक कारण कदाचित् यह था कि वाममार्गी दर्शनों, विशेष रूप से बौद्ध दर्शन की

निरीश्वरवादी चुनौती क्षीण पड़ती जा रही थी।

कविराज बौद्ध दर्शन के गहन अध्येता थे और उन्होंने इसकी विभिन्न अवस्थाओं के पुनर्गठन में बड़ी मौलिकता दिखाई है। वे बौद्ध दर्शन के मूल को स्वयं बुद्ध के अनुभव में खोजना चाहते थे। धार्मिक आस्था के उदय एवं इतिहास के सम्बन्ध में उनकी धारणा थी कि इसे समुचित रूप से समझने के लिए इसके आध्यात्मिक सत्यों का विवेचन आवश्यक है। उनका मत है कि ऐतिहासिक दृष्टि से बुद्ध स्पष्टतया सांख्य योग और उपनिषदों की परम्परा से जुड़े हुए थे। उन्होंने बौद्ध धर्म एवं औपनिषदिक उपासनाओं के बीच गहन सम्बन्ध देखा था। औपनिषदिक उपासनाओं में द्रव्ययज्ञ के स्थान पर ज्ञानयज्ञ पर ही बल दिया गया है। बुद्ध द्वारा भौतिक बलिदानों के प्रत्याख्यान को ही आधुनिक सामाजिक इतिहासकारों ने अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। दुर्भाग्य से वे इसके पीछे आध्यात्मिक कारकों की अपेक्षा आर्थिक कारकों की भूमिका अधिक देखते हैं।

कविराज की यह भी मान्यता थी कि जहाँ बुद्ध के उपदेशों को विभिन्न बौद्ध दर्शनों ने अलग-अलग रूपों में विकसित किया, मूल उपदेशों में कतिपय सामान्य सिद्धान्त थे जिनसे यह वैविध्यपूर्ण विकास प्रेरित हुआ था। महायानों का सिद्धान्त कि बुद्ध के उपदेशों को उनके शिष्यों द्वारा अलग-अलग प्रकार और विभिन्न रूचियों के अनुरूप समझने के कारण ही उनमे वैविध्य मिलता है। कविराज इसे मौलिक सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं जो दर्शाता है कि आध्यात्मिक अनुभव के विभिन्न स्तरों के अनुसार दार्शनिक सिद्धान्तों को श्रेणीबद्ध किया जाता है। महायान सम्प्रदाय के मूल सिद्धान्त भी बुद्ध के मूल उपदेशों में देखे जा सकते हैं। यहाँ तक कि उपनिषदों में भी वे मिलते हैं। यही कारण था कि कालान्तर में महायानी परम्परा ने वेदांत के विकास को प्रभावित किया।

आचार्य नरेन्द्र देव सहित बौद्ध दर्शन के अनेक आधुनिक व्याख्याताओं की मान्यता है कि इसमें गुरु के अंधानुकरण का अस्वीकार है और व्यक्ति द्वारा सत्य के स्वतंत्र एवं तार्किक अन्वेषण पर बल दिया गया है। इसके विपरीत कविराज का मत है कि बौद्ध दर्शन में जहाँ आध्यात्मिक सत्य के निजी अन्वेषण को प्रोत्साहित किया गया है, वहीं गुरु की सर्वोच्च महत्ता को भी माना गया है।

विवेकानन्द की भाँति कविराज भी मानते थे कि योग भारतीय आध्यात्मिकता की और इसी कारण भारतीय दर्शन की भी अखंड आधारशिला है। अतः योग के मूल सिद्धान्त एवं व्यवहार सभी दार्शनिक प्रणालियों की साझी सम्पत्ति रहे हैं। बौद्ध दर्शन बड़ी सीमा तक योगिक आस्था था। बुद्ध बार बार ध्यान पर बल देते हैं। ध्यान

से सहजज्ञान (प्रज्ञा) प्राप्त होता है जिसका बौद्ध एवं योगिक ग्रन्थों में एक सा विवेचन मिलता है। वस्तुतः सर्वास्तिवाद के कतिपय ग्रन्थों एवं **योगभाष्य** में पर्याप्त साम्य है। योग की भाँति तंत्र भी भारतीय दर्शन की विभिन्न प्रणालियों की सांझी सम्पत्ति था। गुरु, मंत्र और उपासना के सिद्धान्त उन सब में अलग-अलग रूप में मिलते हैं। वज्रयान में उनका महत्त्व सर्वविदित है। किन्तु कविराज का कहना है कि बौद्ध दर्शन में वे आरम्भ से ही विद्यमान थे। स्वयं बुद्ध जगद्गुरु थे, और बौद्ध होने के लिए उनकी शरण में जाना आवश्यक था। कविराज यह भी मानते हैं कि आनापान सति बिना बीज के सम्भव नहीं।

महायान सम्प्रदाय में सबकी मुक्ति का सिद्धान्त योगभाष्य और वेदांत के सर्वमुक्ति के सिद्धान्त में भी प्रतिध्वनित होता है। कविराज की मान्यता थी कि इसका कारण भी आध्यात्मिक औदात्य के कठोर तर्क का ही परिणाम है। बौद्ध धर्म के पतन के लिए वे अनेक कारणों को उत्तरदायी मानते थे किन्तु सर्वाधिक बल उन्होंने इस कारण पर दिया कि हिन्दू धर्म ने बौद्ध धर्म की धारणाओं को अपने में समाहित कर लिया था। संयोग से बौद्ध मठों का भी पतन एवं नाश हो गया था।

३

दार्शनिक अन्वेषण का स्वरूप और गठन

वाइटहेड की भाँति कविराज भी दर्शनशास्त्र की संकल्पना अनिवार्यतः संसृतिशास्त्र के रूप में करते हैं। तथापि इसे उन्होंने भौतिक विज्ञान के परिणामों पर आधारित न करके योग तन्त्र एवं अध्यात्मिक विज्ञान के परिणामों पर आधारित करने का प्रयास किया। वे दर्शन को निश्चित ज्ञान के परे जाने वाला चिन्तन मात्र नहीं मानते थे, न ही अभिप्रेरित विचारधारा, न ही केवल तार्किक अथवा भाषाशास्त्रीय अन्वेषण, जो कि भारतीय दार्शनिक प्रणालियों में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। व्याकरण के विज्ञान एवं दर्शन के आरम्भिक विकास का भारतीय दर्शन के विकास पर वैसा ही निर्णायक प्रभाव रहा है जैसा कि पाश्चात्य दर्शन पर यूनान में होने वाले समान्तर ज्यामिती के विकास का रहा है। भाषा के स्वरूप एवं प्रकार्य का अध्ययन एवं अर्थ के अर्थ का विश्लेषण क्रमशः सभी दार्शनिक पद्धतियों के अनिवार्य अंग बन गए। इसी प्रकार शुद्ध तर्कशास्त्र का अध्ययन एवं ज्ञान के स्वरूप, स्रोतों और सीमाओं की आलोचनात्मक व्याख्या भी दार्शनिक अन्वेषण के अनिवार्य अंग माने जाने लगे। परिमाणतः पारम्परिक संस्कृत दर्शन में तो विन्यास की सूक्ष्मता एवं अभिव्यक्ति के सौष्ठव तथा शास्त्रार्थ की तार्किक दृढ़ता को उतना ही महत्त्व दिया जाने लगा जितना कि वास्तविक आध्यात्मिक या संसृतिशास्त्रीय विषयों को। नव्य-न्याय में और इसके प्रभाव से अन्य दार्शनिक प्रणालियों में भी दर्शन की भाषा इसके मूल प्रयोजन को आच्छादित करने लगी। जब १९वीं शती में ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत काशी में संस्कृत की शिक्षा का पुनर्गठन किया गया तो इस पद्धति को शासकीय परीक्षा पद्धति का प्रबल समर्थन मिला। कविराज को भी, जो आधुनिक विश्वविद्यालय व्यवस्था में संस्कृत का अध्ययन कर रहे थे, सलाह दी गई कि वे अपना अध्ययन किसी प्रख्यात गुरु के मार्ग दर्शन में नव्य न्याय के पारम्परिक अध्ययन से ही आरम्भ करें। परम्परा का अंतरंग ज्ञान होने के कारण कविराज इसके अभिनव आचारवाद से ही सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने इसके प्राचीन आधारों का अन्वेषण किया, साथ ही उन्होंने उस अनुभव और यथार्थ के आलोक में इसका मूल्यांकन करने का प्रयास भी किया जो इसके विश्लेषण की पृष्ठभूमि थे। वे दर्शन को भाषा और अवधारणात्मक चिंतन का विश्लेषणातमक विवरण ही नहीं मानते थे। उनकी दृष्टि में दर्शन ऐसा आध्यात्मिक विज्ञान था जो युगों से अपने स्वरूप एवं नियति के सम्बन्ध

में मानव द्वारा उठाए जाने वाले प्रश्नों का उत्तर देता हो और जो आदर्शोन्मुख व्यक्तियों की आकांक्षाओं एवं प्रयासों को प्रकाशस्तम्भ की भाँति मार्ग दिखाता हो। वे दार्शनिक धारणाओं की परस्पर विरोधी विविधताओं से भली-भाँति परिचित थे, किन्तु उनके बीच से किसी भव्य संश्लेषण के संपादित होने की आशा उन्होंने नहीं छोड़ी थी। विभिन्न दार्शनिक धारणाएं प्रायः किसी जटिल यथार्थ के आंशिक पक्ष को ग्रहण कर अपनी सीमाओं के भीतर सत्य के किसी एक पक्ष को अभिव्यक्त करती हैं। यहाँ हम सात अंधे व्यक्तियों एवं हाथी की कथा का प्रसिद्ध दृष्टान्त ले सकते हैं जिसे उदान बुद्ध की कथा मानते हैं। इसके अतिरिक्त, जिस अनुभव का विश्लेषण दार्शनिक चिंतन में होता है, उसके विभिन्न स्तर होते हैं। विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों की परस्पर विरोधी धारणाओं के सम्बन्ध में पूछे जाने पर कविराज प्रायः कहते थे कि इन धारणाओं में अंतर्विरोध की अपेक्षा समझ का फेर ही अधिक है। विभिन्न पद्धतियों के प्रस्थान वैशिष्ट्य एवं व्यवहारों को आत्मसात् कर लेने पर यह बात सहज ही समझी जा सकती है। उनकी सोदाहरण व्याख्या में अद्भुत पांडित्य एवं गहरी समझ के दर्शन होते थे। ध्यान देने योग्य है कि हेगल जैसे द्वद्वंन्याय प्रणाली के चिंतक और जैन चिंतन में भी विपरीत दिखाई देने वाली दार्शनिक धारणाओं के प्रति कुछ इसी प्रकार का दृष्टिकोण मिलता है। किन्तु कविराज का प्रयोजन अपनी कोई अलग द्वंद्वन्यायात्मक प्रणाली प्रतिपादित करने का नहीं था। उनका लक्ष्य तो विभिन्न आध्यात्मिक स्तरों एवं दृष्टिकोणों के बीच वर्तमान द्वंद्वन्यायात्मक प्रक्रिया एवं कड़ियों को सामने लाना था।

शब्द और अर्थ, सामान्य और विशेष, ज्ञान और सत्, यथार्थ और भ्रम, चेतन और जड़ के प्रश्नों को लेकर अंतहीन दार्शनिक विवाद हुए हैं। कविराज ने आध्यात्मिक अन्वेषण की दृष्टि से प्रतिद्वंद्वी पक्षों को समझने का प्रयास किया है। यदि विचारक स्वयं को सामान्य बोध एवं साधारण अनुभव की अंतर्दृष्टि तक ही सीमित रखता है तो उसके विवरण का आंशिक एवं असंतोषजनक होना निश्चित है और प्रतिक्रियास्वरूप द्वंद्वात्मक रूप से अंतर्विरोधपूर्ण विवरण ही प्रस्तुत होगा। जहाँ संशय के समाधान के लिए गहन दृष्टिकोण अपनाया जाना आवश्यक है वहाँ मात्र विश्लेषण अपर्याप्त सिद्ध होगा। उदाहरण के लिए, शब्द और अर्थ के प्रश्न को लीजिए। ध्वनि के रूप में शब्द को अनित्य कहा गया है। वर्णानुपूर्वी अथवा स्फोट के रूप में इसे नित्य माना गया है। इसी प्रकार 'अर्थों' को वास्तविक वस्तुएँ भी माना गया है और अनुभव की आसन्न वस्तुएँ, मानसिक रचनाएँ, सामान्य या विशेष भी। इन धारणाओं के पीछे विभिन्न मनोवैज्ञानिक, ज्ञानमीमांसीय, एवं आध्यात्मिक प्रस्थापनाएं कार्यरत हैं जैसे कि उद्योतकार, कुमारिल, दिङ्नाग और धर्मकीर्ति की प्रस्थापनाएँ। ये धारणाएँ स्वाभाविक भाषाओं के यथार्थ लक्षणों पर विचार करती है और विभिन्न आध्यात्मिक दृष्टिकोणों से उनकी व्याख्या करती हैं। किन्तु क्या स्वाभाविक भाषा को उच्चरित ध्वनियों, व्याकरण के

रूपों एवं संरचनाओं और सामाजिक रूप से अभिगृहीत पारंपरिक प्रतीकों के माध्यम से पूर्णरूपेण समझा जा सकता है? क्या सामान्य मानव-भाषा सामाजिक-ऐतिहासिक धरातल पर मानस में प्रसुप्त गहन क्षमता की स्थूलतम अभिव्यक्ति मात्र नहीं है? प्राचीन वैयाकरण जानते थे कि उच्चरित भाषा के परे विचार और सहजबोध की सूक्ष्मतर भाषाएं स्थित हैं। तथापि, भाषा के गहन रहस्यों से जूझने का कार्य तंत्रशास्त्र के लिए शेष रहा। कहने का तात्पर्य यह कि भाषा के सामान्य प्रयोगों चाहे वे व्यवहारगत वैज्ञानिक अथवा काव्य के हों, जैसे कि 'चैत्र भोजन बना रहा है', 'गौ को लाओ', 'पात्र नीला है', या 'चंद्रमा वाष्पाधं मुकुर की भाँति चमकता नहीं', या 'वृद्धि' 'आ', 'ऐ' और 'ओ' का तकनीकी नाम है, के विश्लेषण से भाषा का समुचित दर्शन खड़ा नहीं किया जा सकता है। इसे विचार और स्वप्न में, अनुष्ठान और अभिचार में, सहजबोध और दिव्य ज्ञान में वाणी के प्रकार्य पर भी विचार करना होगा। सामान्य व्यवहार में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से केवल परंपरा पर ही निर्भर प्रतीत होता है। फिर भी, प्राचीन विचारक एक 'स्वाभाविक', 'मौलिक' या दैवी विधान द्वारा स्थापित सम्बन्ध में विश्वास करते थे। इस धारणा को आज के आधुनिक युग में अतार्किक अंधविश्वास कहकर त्याग दिया गया है। क्या भाषादार्शनिक इन सब प्रश्नों पर कोई निर्माण लिए बिना अपना कार्य कर सकता है? काव्य में शब्दों की सृजनशीलता स्वीकृत है, किन्तु ऐसी भी मान्यता रही है कि स्वयं ब्रह्मांड का सजृन शब्द से जुड़ा है। वस्तुतः ऐसी धारणा भी रही है कि रूढ़ नाम कुछ भी हों, प्रत्येक मूल प्राकृतिक तत्त्व की अपनी एक 'बीज' रूप 'ध्वनि' होती है। शब्द औ अर्थ के स्वरूप को वैखरी के स्तर पर पूर्णरूपेण नहीं समझाया जा सकता। वैखरी सामाजिक रूप से अभिगृहीत एवं रूढ़िगत रूप से प्रतीकात्मक स्पष्ट वाणी को कहते हैं। इसके लिए आवश्यक है कि वाणी के स्वरूप को इसके मानसिक एवं आध्यात्मिक मूलों तक खोजा जाए। इंद्रियानुभव के परिचित स्तर पर जो शब्द एवं अर्थ के रूप में प्रस्तुत किया जाता है वह तो एक ऐसी प्रक्रिया की स्थूलतम अभिव्यक्ति है जो शुद्ध चेतना में सृजनशीलता के स्फुरण के साथ आरंभ होती है।

वैखरी वाणी का वह रूप है जिससे सामान्य सामाजिक जीवन का कार्य व्यापार चलता है। इसके मूल में चिंतन की 'भाषा' स्थित रहती है जिसे मध्यमा कहते हैं जो अंतर्वैयक्तिक संप्रेषण एवं एक भाषा का दूसरी भाषा में अनुवाद सम्भव बनाती है। स्वयं मध्यमा का उदय पश्यंती के सहजबोधात्मक स्तर से होता है जिसमें वाणी और दृष्टि एकरूप होती है। ब्रह्मांड के स्तर पर इसकी संगति नाद, शब्दब्रह्म अथवा महामाया से होती है, जिसके परे तो बस परा की आत्मपुष्टि ही होती है। स्मरणीय है कि कतिपय प्राचीन विवरणों में पश्यंती और परा के बीच स्पष्ट भेद नहीं किया गया है। कविराज के लिए वाणी के ये विभिन्न स्तर केवल चिंतन का विषय नहीं थे अपितु अनुभव द्वारा

प्रमाणित थे। कभी कभी वे बताते थे कि किस प्रकार अन्तः प्रज्ञा अथवा दिव्य ज्ञान की वाणी मन द्वारा स्वयमेव अपनी सामान्य रूढ़ भाषा में परिवर्तित कर दी जाती है।

अतः, ऐसा प्रतीत होता है कि वाणी का चरम उत्स स्वयं संवित् के विमर्श पक्ष में होता है। इसी से ब्रह्मांड की सृजनात्मक कोख के रूप में नाद उत्पन्न होता है। मानवीय स्तर पर सहजबोधात्मक शक्ति विचार की विभाजक एवं रचनात्मक शक्ति से धूमिल पड़ जाती है, जो गठित, व्यक्त ध्वनियों के रूप में अभिव्यक्त होती है।

अतींद्रिय स्तर से स्थूल इंद्रिगम्य अनुभव तक वाणी के सातत्य की धारणा एक युगों पुरानी प्रहेलिका का समाधान हो सकती है: क्या सर्वोच्च सत्य शब्दों में संप्रेषणीय है? यदि नहीं, तो क्या इसमें संशयवाद निहित नहीं? विभिन्न युगों में ये प्रश्न अनेक रूपों में उठाए जाते रहें हैं। उदाहरण के लिए, हाल ही में यह तर्क दिया गया है कि धार्मिक भाषा अ-संज्ञानात्मक होती है, जिसका अर्थ यह समझा गया है कि यह अर्थहीन होती है, या कि यह भावात्मक होती है, या कि यह लाक्षणिक अथवा मिथकीय होती है। उपनिषदों में कहा गया है कि ब्रह्म अनिर्वचनीय होता है, साथ ही यह भी निर्देश है कि ब्रह्म के सम्बन्ध में मनीषियों से सुनकर ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। बौद्ध तो सत्य को निश्चित रूप से वाणी और विचार से परे मानते हैं, फिर भी आरंभिक संकोच के बाद बुद्ध ने धर्म का उपदेश करना स्वीकार कर लिया था। न्याय-वैशेषिक में तो शब्दों को ज्ञान का सहविस्तारी माना गया है। भर्तृहरि का कहना है कि शब्दों के बिना विचार हो नहीं सकते, धर्मकीर्ति की मान्यता है कि सभी संकल्पनाओं और निर्णयों के लिए शब्दों की आवश्यकता होती है। अद्वैत परंपरा में माना गया है कि सच्चा ज्ञान श्रुतिवचन के श्रवण से मिल सकता है जो जहदजहल्लक्षणा के माध्यम से कार्य करता है।

सामान्य भाषा के शब्द तो केवल अप्रत्यक्ष या संकल्पनात्मक ज्ञान ही दे सकते हैं या भावात्मक अथवा व्यावहारिक संदेश ही दे सकते हैं। वे चित्त को गलत धारणाओं से विमुख करके सच्चे मार्ग की ओर उन्मुख कर सकते हैं। तथापि, सच्चा ज्ञान तो सहजबोधात्मक ही होता है, और सहजबोध लैकिक व्यवहार की संकल्पनात्मक रूप से गठित भाषा को भेद जाता है। फिर भी यह सहजबोधात्मक ज्ञान इंद्रिय बोध से इसी अर्थ में भिन्न है कि इसमें आत्मप्रतिज्ञान एवम् आत्मनिर्धारिण की क्षमता होती है, जिससे असंकल्पनात्मक होते हुए भी यह अस्पष्ट नहीं होता। सर्वोच्च स्तर पर इसमें आत्मज्ञान की अंसदिग्धता होती है।

मुखर ध्वनियां, संकल्पनाएँ एवं तार्किक संरचनाएँ वैखरी और विकल्प के स्तर पर तो अनिवार्य होती हैं, किन्तु 'भाषा' के उच्चतर स्तरों अथवा सहजबोधात्मक ज्ञान के स्तर पर नहीं। इससे सत्य के ज्ञान में तार्किक चिंतन की भूमिका के प्रश्न का भी समाधान हो जाता है। दर्शन की अधिकांश भारतीय पद्धतियों की मान्यता है कि परमज्ञान इंद्रिय प्रत्यक्ष अथवा अनुमिति द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता और इसके

लिए सहजबोधात्मक अथवा दिव्य ज्ञान की सहायता आवश्यक है। यह धारणा रूढ़िवादी आस्था का परिणाम नहीं है, अपितु इस ज्ञान का परिणाम है कि मानव अनुभव इंद्रियात्मक बोध तक ही सीमित नहीं है। तार्किक चिंतन भी केवल अमूर्त, विश्लेषणात्मक और किसी दृष्टिकोण के सापेक्ष ही हो सकता है। किसी संपूर्ण, सहजबोधात्मक अनुभव में ही पूर्ण सत्य प्रकट हो सकता है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि एक बार कविराज से पूछा गया कि रसल जो तर्क को दर्शन का सार मानते हैं, उसके सम्बन्ध में, और प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र के विकास की दार्शनिक प्रासंगिकता के सम्बन्ध में उनकी क्या धारणा है। इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि तर्कशास्त्र ज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण शाखा है जिसके प्रति कभी उनका भी झुकाव रहा था। दार्शनिक को सदैव ही तर्कशास्त्र में प्रशिक्षित होने की आवश्यकता होती थी और जहाँ दार्शनिक स्थापनाओं की तार्किक सुसंगति के प्रति उन्हें आदर भाव सिखाया जाता था, वहीं यह भी नहीं कहा जा सकता कि आधुनिक तर्कशास्त्र ने दार्शनिक समस्याओं का समाधान करने में प्राचीन तर्क प्रणाली से अधिक सफलता प्राप्त कर ली है। गणित और ऐसे ही अन्य विषयों के साथ प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र का फलप्रद सम्बन्ध रहा है, किन्तु यही बात दर्शन के साथ इसके सम्बन्ध के विषय में नहीं कही जा सकती[१] कि अधिकांश दार्शनिक लेखन में तार्किक प्रस्थापनाएं होती हैं और इसमें तार्किक दृढ़ता एवं सौष्ठव को अत्यंत महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। किन्तु दर्शन गणित या तर्कशास्त्र की भाँति शुद्धतः नियमबद्ध विषय नहीं है। दर्शन तो पारपंरिक रूप से विवेक का मार्ग दिखाता रहा है और व्यक्ति की जीवन दृष्टि को रूपांतरित करता रहा है।

जिस समस्या का दर्शन को अनिवार्यतः सामना करना पड़ता है, वह है आत्मा की समस्या। दार्शनिक अन्वेषण के सिंहद्वार पर सदैव यह आदर्श वाक्य अंकित रहना चाहिए : आत्मानं विद्धि (स्वयं को जानो)। एक बार एक संशयवादी पंडित जो बनारस विश्वविद्यालय में नियुक्त हुआ था, कविराज से मिलने आया और कहा कि वह अपने विषय के माध्यम से मानवता की सेवा करना चाहता है। कविराज ने कहा कि किसी का स्वभाव, आवश्यकताओं एवं संभावनाओं को ठीक से जाने बिना उसकी सेवा करना असम्भव है। मानवता की सेवा करने के लिए तो सर्वप्रथम अपने आपका सच्चा ज्ञान होना आवश्यक है। किसी रुग्ण व्यक्ति की सेवा करने के लिए उसके रोग के स्वरूप एवं चिकित्सा का ज्ञान होना आवश्यक है। मनुष्य के दुखों का कारण जानने के लिए उसके यथार्थ एवं निर्दोष स्वरूप को जानना परमावश्यक है।[२]

आत्मा का स्वरूप जानने के लिए हमें मूर्त, अनुभवगम्य आत्म चेतना से आरंभ करना चाहिए न कि चिंतनशील अथवा सामाजिक वस्तुरूप आत्मा से जो अमूर्त होता है। अन्यथा हम आत्मा को संश्लिष्ट आत्म-अवबोध अथवा 'काल्पनिक अभिसरण

बिन्दु' या 'सामाजिक प्राणी' मान बैठेंगे। दूसरी ओर मूर्त, अनुभवगम्य आत्म-चेतना में, जैसा कि शंकराचार्य ने कहा, विषय और विषयी की पारस्परिक रूप से अध्यारोपित धारणाएं होती हैं। अतः 'मैं हूँ' और 'मेरा शरीर' अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए प्रतीत होते हैं। सांख्य, वेदान्त एवं बौद्ध आचार्यों का कथन है कि 'मैं हूँ' के ज्ञान के साथ ही 'शरीर' का निरसन हो जाना चाहिए। कविराज का कहना है कि जो आत्मा इंद्रियातीत है उसकी खोज में तो शरीर के विभिन्न स्तरों एवं रूपों का ज्ञान रखना ही पड़ता है भले इसकी आवश्यकता उनके तात्कालिक नकार के लिए ही क्यों न हो।[३] आत्मान्वेषक को शरीर से घृणा नहीं करनी चाहिए अपितु उसके सार को समझना चाहिए। आत्मचेतना की खोज में सर्वोच्च के अतिरिक्त सभी स्तरों पर शरीर ही मध्यस्थता का सिद्धान्त होता है। सर्वोच्च अतींद्रिय स्तर पर तो पूर्णतः अव्यवहित अथवा स्वयं-मध्यस्थ चेतना का स्तर होता है जिसमें सत्ता की अनंत संभावनाएं अविभेदित एवं अव्यक्तावस्था में इसके साथ शाश्वत रूप से एकाकार रहती हैं। सृष्टि की हलचल सत्ता से चेतना का स्पष्ट अपहार एवं आत्मारोपित सीमाओं के माध्यम से संभावनाओं का प्रकटीकरण और आदिसर्जनात्मक शक्ति (महामाया) नाद और शब्द ब्रह्म की क्रिया है। सृष्टि के शुद्ध क्षेत्रों के नीचे जब सीमा के सिद्धान्त के साथ सृष्टि का सिद्धान्त जुड़ जाता है तो मूल अविद्या के विशेष पारस्परिक अध्यारोपण द्वारा विषयी-विषय का विभेद समाप्त हो जाता है। यह अध्यारोपण अनुभवजन्य आत्मचेतना की विशेषता है।

इस मूल अविद्या को प्रायः 'हेतु शरीर' कहा जाता है, जो गहन निद्रा की अवस्था में चेतना का माध्यम होती है। आत्मचेतना यहाँ 'मुझे किसी बात का भान नहीं था', 'मैं सोया हुआ था', 'मैं शांति-पूर्वक सोया' इत्यादि का रूप धारण कर लेती है। इस अचेतन की आरंभिक अवस्था कहा जा सकता है, जिसमें काल और कर्म की धारा चलती रहती है, और इससे निकल कर चेतना निष्क्रिय अनुभव की एक नई अवस्था में प्रविष्ट हो जाती है। यह कल्पना के आंतरिक स्तर पर हो सकता है जिसे स्वप्नों, दिवास्वप्नों अथवा अशरीरी सत्ताओं के विचारप्रवाह में देखा जा सकता है। यहाँ चेतना के माध्यम में अनुभव करने की शक्तियाँ और उनकी वस्तुएं सूक्ष्म रूप में सम्मिलित रहती हैं। इस माध्यम को प्रायः 'सूक्ष्म शरीर' अथवा लिंग कहा जाता है और यह देहान्तरण का माध्यम होता है। बाह्य जगत् की सामान्य जाग्रत चेतना, केवल इसी को सामान्य बोध सत्यभावी मानता है, आत्मा की 'स्थूल शरीर' से सक्रिय एकरूपता पर आश्रित होती है, स्थूल शरीर अर्थात् पंचीकृत भूत से निर्मित शरीर। मानव स्तर पर इस भौतिक आत्मचेतना की विशेषता है स्वैच्छिक क्रिया की क्षमता, जो कर्म का मूल है। इसी कारण मानव संसार को कर्मलोक कहा गया है, चौरासी लाख प्रकार की पशु योनियों को भोग योनि कहा गया है जहाँ निष्क्रिय अनुभव तो होता है किन्तु कोई स्वैच्छिक कर्म सम्भव नहीं है। इन तीन स्वाभाविक शरीरों के अतिरिक्त अनेक प्रकार

के अतिप्राकृतिक शरीर होते हैं जैसे कि महाकारण, बैन्दवदेह, हंसदेह या भावदेह। चेतना और उसका माध्यम भिन्न स्तरों पर भिन्न रूपों में रहते हैं।

सांख्य जैसी ज्ञानवादी परंपराएं जो आध्यात्मिक सत्ता की शुद्ध अतींद्रियता पर बल देती हैं, 'आत्मा' और 'द्रव्य' में मूल अंतर मानती हैं। लोकप्रिय स्तर पर यह एक प्रकार की नकारात्मक आध्यात्मिकता में प्रतिबिंबित होता है जिसमें शरीर को हेय माना जाता है और जिसकी चरम परिणति को 'मुक्तिवादी अहंवाद' कहा गया है। कविराज इसका अनुमोदन नहीं करते। नकारात्मक ज्ञानवाद शरीर और आत्मा के सम्बन्ध को संयोगात्मक और अर्थहीन मानता है। यहाँ तक कि सृष्टि भी अविज्ञेय हो जाती है। आत्मा को आत्मचेतना में निहित माना जाता है, किन्तु सदैव आत्मचेतना के इस 'माध्यम' की आवश्यकता क्यों पड़ती है? शुद्ध चेतना के सिद्धान्त को क्यों किसी अन्य की आवश्यकता होती है? और क्या द्रव्य का मूल अन्यत्व एवं अचेतनता इसे भाववादी आलोचना का विषय नहीं बना देगी कि तब तो भौतिक पदार्थ के स्वरूप को सार रूप में अज्ञेय मानना पड़ेगा और उसके बिना भी काम चलाना पड़ेगा सिवा उसके जो चेतना का हेतुक पाश होता है? आत्मा और द्रव्य को एकाएक ही अलग कर देने से दोनों की वास्तविकता संकट में पड़ जाती है। यह कहना कि वे भिन्न किन्तु एक दूसरे से जुड़े हुए हैं उनकी गहन एकता को दर्शाता है।

इस एकता को किसी जड़वादी परिकल्पना से नहीं समझा जा सकता। अरस्तू का कहना था कि किसी भी वस्तु के स्वरूप को उसके प्रयोजन अथवा हेतु के संदर्भ में समझा जाता है। प्रकृति की कोख से ही मन का विकास होता है, अतः प्रकृति के स्वरूप को मन की अपेक्षा द्रव्य के संदर्भ में कैसे समझा जा सकता है? भारतीय दर्शन की अनेक प्रणालियों में स्वीकार किया गया है कि मानव बुद्धि के दो भिन्न पक्ष होते हैं। चेतना कुछ भी नहीं है यदि उसे समस्त परिवर्तनों एवं विषयों का संदर्भ रूप शाश्वत विषयी न माना जाए। साथ ही चेतना विचारों का ऐसा प्रवाह भी है जिनका सम्बन्ध स्पष्टतः अपने से परे कहीं होता है। साक्षी आत्मा, गतिशील मन और इसका संसार जिसका वह प्रतिनिधित्व एवं व्याख्या करता है, तीन ऐसे अविभाज्य बिन्दु हैं जिनमें मानव अनुभव अपने आपको विश्लेषण के लिए समेट लेता है। कर्म के सिद्धान्त से इन तीनों का सम्बन्ध सर्वविदित है। मन से एकाकार आत्मा भोक्ता होता है, कोई मन विशेष और उसकी विशिष्ट सांसारिक स्थिति, जिसमें शरीर भी सम्मिलित है, संचित कर्म द्वारा संयुक्त होते हैं ताकि वह फलीभूत हो सके। पिंड हो या ब्रह्मांड, उनका निर्माण ही उस आत्मा के लिए होता है जो शरीर धारण करता है और संचित कर्म अथवा स्वैच्छिक कर्म को फलीभूत करने के लिए जन्म लेता है। इस प्रकार, शरीर और ब्रह्मांड के निर्माण में मानवेच्छा एवं प्रयोजन को परांपरिक रूप से स्वीकार किया गया है। द्रव्य का अपने आप में कोई प्रयोजन अथवा स्वतः स्फूर्त गति नहीं होती, अपितु

इसका अस्तित्व इसीलिए होता है कि मानव के प्रयोजनों को साकार किया जा सके और अंततः अपूर्ण मानव प्रयोजनों का दबाव ही इसे गति देता है। द्रव्य की निष्क्रियता, अभिधेयता एवं निवेशित गतिशीलता के मूल में यही कारण है।[४]

प्रकृति का द्रव्य काल, परिवर्तन और दूषण से प्रभावित होने के कारण प्रायः अशुद्ध अथवा दूषित माना जाता है, और ऐसा साधन जिसके माध्यम से आत्मा एषणाओं, अनुभव और कर्म के जाल में बंधता है। अनेक दार्शनिक प्रणलियों में शुद्ध, दूषणरहित द्रव्य (विशुद्ध सत्व, अप्राकृत अथवा अनाश्रव रूप) के अस्तित्व की परिकल्पना की गई है, और द्रव्य के स्वरूप को समझने के लिए कविराज इसे आवश्यक मानते हैं। हेतुक, सूक्ष्म और स्थूल शरीर अशुद्ध द्रव्य से बने होते हैं, जो आत्मा को आवृत्त करने के साथ ही धूमिल भी करते हैं। जैसा कि पहले कहा गया है शरीर का कार्य एक साथ ही आत्मा का प्रतिरूप और उपसाधन होता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार स्वयं को देखने की इच्छा रखने वाले मुख के लिये दर्पण होता है। अशुद्ध द्रव्य और इससे निर्मित शरीर गंदे और विकृत प्रतिबिंब दर्शाने वाले दर्पणों के भाँति कार्य करते हैं जिससे अपने प्रति सचेत होने वाला आत्मा इनके माध्यम से अपनी ऐसी छवि पाता है जो भ्रामक होती है।

दूसरी ओर, शुद्ध द्रव्य आत्मा के सच्चे स्वरूप को धूमिल नहीं करता यद्यपि वह इसकी प्रसुप्त इच्छा से प्रभावित होता है और रूपों एवं वस्तुओं के विभिन्न शुद्ध संसारों को आविर्भूत करता है। शुद्ध क्षेत्र (शुद्धाध्वा) के भीतर विभेदन एवं स्वतःस्फूर्त आत्मसीमन के अधीन होने पर भी आत्मा भ्रांति और दूषण की अशुद्धियों से मुक्त रहता है। यह शुद्ध द्रव्य चेतना से भिन्न रहता है या उसके अथवा अपनी शक्ति के तद्रूप होता है, विवाद का विषय रहा है। तथापि यह निश्चित है कि शरीर और मन दोनों का ही मूल प्रकृति में है और स्वयं प्रकृति भी आध्यात्मिक सृजनशीलता अथवा प्रत्यावर्तन का ही परिणाम है। अतः केवल शरीर के नकार द्वारा अथवा चेतना को निष्क्रिय तंद्रा में सुलाकर ही आत्मोपलब्धि नहीं हो सकती। शरीर के गौण होने की बात ही क्या, वह तो आत्मा की नियति को फलीभूत करने का साधन है '**शरीरमाद्यं खुल धर्मसाधनम्**'। ज्ञानवादी द्वारा शरीर का अस्वीकार और आत्मा के अशारीरिक 'मोक्ष' की संकल्पना उतने ही अपर्याप्त हैं जितना कि स्थूल शरीर के सूक्ष्म रूपों एवं मूलों को देखने में भौतिकतावादी की असफलता। सब द्रव्य ऐंद्रिय अथवा मन के लिए बाह्य नहीं होता, न ही चेतना द्रव्य के संदर्भ में अनिवार्यतः निष्क्रिय या शक्तिहीन होती है। आध्यात्मिक सत्ता तो एक विशाल सातत्य होती है जो एक परम आत्म चेतना से लेकर मानव की पृथ्वी से बंधी चेतना तक विभिन्न श्रेणियों में फैली रहती है। आत्मान्वेषण कोई अहं-केंद्रित मनोवैज्ञानिक अन्वेषण नहीं होता। यह तो ब्रह्मांड मात्र में चिदात्मा की खोज है, सत्ता के स्वरूप का सर्व व्याप्त वैज्ञानिक अन्वेषण है। आत्मा

कोई निरर्थक विषय नहीं, न ही अन्य जड़ वस्तुओं की भाँति अन्य वस्तु। न ही यह कोई भ्रांति, कोई रचना अथवा मात्र एक शब्द है। यह तो आध्यात्मिक यात्री का मार्गदर्शक आलोक स्तंभ है।

मानव शरीर में आत्मा की प्रथम अनुभूति शारीरिक चेतना से जुड़ी रहती है। तथापि, अगणित जन्म-मरणों तक मानव आत्मा की चेतना को आनंदोपभोग एवं बाह्य वस्तुओं से गौण समझता है, जिसमें वह पूर्णरूपेण प्रयुक्त हो जाती है। (वर्ड्सवर्थ के शब्दों में) 'हम संसार में अत्यधिक लिप्त रहते हैं।' तथापित क्रमशः आंतरिक प्रौढ़ता अथवा मलपाक के साथ मनुष्य आत्मा के इस प्रतारणापूर्ण स्वरूप को पहचानने लगता है, जिसे वह अब तक बाह्य वस्तुओं एवं उनके क्षणिक अनुभव से संतुष्ट करना चाहता था, किन्तु जो निरर्थक था। **'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'**[५] (मनुष्य केवल अर्थोपार्जन से संतुष्ट नहीं हो सकता)। **'यन् मु म इयम् भगो सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्ण स्यात् कथं तेनामृता स्याम्'**[६] यदि संपूर्ण पृथ्वी संपत्ति से भरी हो, तो क्या उससे मुझे अमरत्व प्राप्त होगा?) जैसे जैसे मनुष्य कामनाओं को संतुष्ट करने की असम्भवता ('समुद्र इव हि कामः') — आनंदोपभोगों की क्षणिकता और जीवन को सदैव घेरे रहनेवाली मृत्यु की छाया के प्रति सचेत होने लगता है, जीवन के दैनंदिन कृत्य उसके लिए आकर्षण हीन होने लगते हैं। संसार से उसका मोहभंग हो जाता है और उसे अधिकाधिक रूप से इस प्रश्न का मान होने लगता है, 'मैं कौन हूँ?' (**कोऽहम्**)।

इस प्रश्न का समाधान फाउस्ट के ढंग से नहीं किया जा सकता, न ही मेफ़िस्टोफ़िलीज़ के विज्ञान की जादुई शक्ति से, न ही दलदलों को सुखाकर पुल बना देने के समाज कल्याण के कार्यों से। प्राकृतिक विकास की पराकाष्ठा मानव में हो चुकी है, और स्वैच्छिक या निजी कर्म करने की स्वतंत्रता पाकर मानव कर्म के जटिल मार्ग में प्रविष्ट हो चुका है, ऐसी अवस्था में क्या मानव विकास के भावी मार्ग की समुचित रूप से कल्पना की जा सकती है। क्या यह मार्ग निजी मुक्ति की दिशा में अकेले व्यक्ति की यात्रा है, जैसा कि अनेक प्राचीन प्रणालियों में दर्शाया गया है, या यह मार्ग मानव की स्वाभाविक शक्तियों एवं सांस्कृतिक जीवन के सामाजिक विकास का है, जैसा कि आज माना जा रहा है? या यह, जैसा कि कविराज की मान्यता है, संपूर्ण मानव जाति पर किसी महत्तर प्रारब्ध के अवतरित हो जाने में अर्थात् मानव स्वभाव के आध्यात्मिक रूपांतरण एवं सर्वमुक्ति में निहित है? कविराज की मान्यता है कि बौद्ध दर्शन, वेदान्त, योग और कतिपय आगम प्रणालियों के मूल में ऐसी धारणा मिलती है। उन्होंने श्री अरविंदो की भाँति ही बड़े उत्साह से इस धारणा का समर्थन किया। बोधिसत्व का बौद्ध आदर्श समस्त प्राणियों के निर्वाण के प्रति उन्मुख था। महाप्रज्ञा का कमल प्रस्फुटित हो। भावी बुद्ध मैत्रेय का संसार 'स्वर्णिम' संसार होगा अर्थात् रूपांतरित होगा। वेदांत का सर्वमुक्ति का सिद्धान्त सर्व-विदित है। जीव और ब्रह्म की तद्रूपता

में माना गया है कि निजता एक छलावा है। तब मुक्ति किसी एक की कैसे हो सकती है? महायानियों की भाँति कविराज की भी धारणा थी कि निजी मुक्ति तो अंतरिम अवस्था मात्र है। वे यह नहीं मानते थे कि निजता पूर्णरूपेण असत् है। वस्तुतः उनकी तो मान्यता थी कि ब्रह्म में लीन हो जाने पर भी निजता समाप्त नहीं होती। फिर भी ब्रह्म के साथ तद्रूपता के संदर्भ में आध्यात्मिक आत्मद्रव्य की भिन्नता और आध्यात्मिक रूपान्तरण के संदर्भ में उसके साझे परम प्रारब्ध के बीच पूर्ण अनुरूपता होती है। **योगभाष्य** में स्पष्ट कहा गया है कि परमात्मा ने प्रलय के समय समस्त प्राणियों को मुक्त करने का दृढ़ संकल्प किया है। अनेक आगम प्रणालियों में मानव स्वरूप के रूपांतरण को सम्भव माना गया है। न केवल मानसिक यंत्रणा अपितु काल और मृत्यु को भी जीता जा सकता है और मानव प्राकृतिक शक्तियों पर भी सीधा नियंत्रण स्थापित कर सकता है। यद्यपि ज्ञानवादियों एवं अन्य दार्शनिकों ने अमरत्व की व्याख्या लाक्षणिक रूप से आत्मा की अतींद्रिय शाश्वता की उपलब्धि के रूप में की है, कविराज का कहना है कि योग का यथार्थ प्रयोजन काल को विजित करना है, केवल यह जानना नहीं कि अतींद्रिय शाश्वत रूप से अतींद्रिय होता है। माया के अधीन संसार में ध्वंसकारी परिवर्तन काल और द्रव्य से जुड़ा है, किन्तु उनके रूपांतरण की सम्भावना का पूर्व किन्त संकेत शुद्धाध्वा में पहले ही दिया जा चुका है। किन्तु काल में मानव आदर्श उसके प्रत्यावर्तन नहीं हो सकते जो पहले ही रचित है या नितांत प्रकृष्ट है। मानव रूपातंरण में मानव की निजता, स्वतंत्रता और प्रेम या भाव की क्षमता को सुरक्षित रखना आवश्यक है। साथ ही इसके लिए प्रकृति को विजित करने एवं रूपांतरित करने की आवश्यकता होती है। मानव प्रयास और परमात्मा की सतत् कृपा संयोग से परस्पर मिलते हैं। जिसे नीचे से मल पाक अथवा कर्म-साम्य कहा जाता है ऊपर से देखने पर वही परमात्मा की अहैतुकी कृपा है।

यह तो स्पष्ट है कि मानव का रूपान्तरण करने वाली प्रक्रिया अनिवार्यतः आध्यात्मिक होगी, उसका आधार सामाजिक अथवा वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी नहीं होगा। किन्तु ऐसा कहने का तात्पर्य सामाजिक अथवा तकनीकी परिवर्तन की भूमिका को हेय दर्शाना नहीं है। सामाजिक आंदोलन आदर्शवाद के किसी न किसी रूप को लेकर चले हैं और वे मानव गरिमा, वैयक्तिकता एवं स्वतंत्रता, प्रेम, करुणा, अहिंसा और न्याय जैसे मूल्यों की पहचान कराने एवं उन्हें संस्थागत रूप प्रदान करने में सहायक हुए हैं। तथापि, आध्यात्मिक आत्मज्ञान के अभाव में वे सीमित हुए हैं और अहंवाद एवं कट्टरता, घृणा और हिंसा, अराजकता और निरकुंशता ने उन्हें पथभ्राष्ट किया है। सामाजिक सुधार के लिए न केवल विचारधारा एवं संस्थाकरण की आवश्यकता होती है अपितु प्रभावी आध्यात्मिक शिक्षा की भी जिसके लिए आध्यात्मिक रूप से जागरूक शिक्षक अपेक्षित है। इस आध्यात्मिक सृजनशीलता को जिलाए रखना पड़ता है, और निजी

आचार के सहारे उसे आगे बढ़ाना पड़ता है। व्यवहार में सामाजिक सानुरूपता बन जाने पर यह सृजनशीलता समाप्त हो जाती है। निजी आचार मानव के सुधार में आध्यात्मिक साधन को प्रयुक्त करने का अवसर प्रदान करता है। ऐसे आचार के लिए आध्यात्मिक रूप से महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति में पात्रत्व का होना पूर्वनिश्चित होता है। उसमें उच्च नैतिक गुणों एवं कर्म सम्बन्धी प्रौढ़ता का होना आवश्यक है। गुरु की कृपा भी आवश्यक है क्योंकि वही दैवी कृपा का माध्यम है। योग में दीक्षित होना आध्यात्मिक आचार का आरंभ है। तब आत्मज्ञान और मुक्ति की खोज चराचर जगत् से जुड़ जाती है, जिसे मानव इच्छा, योजना अथवा संगठन से प्राप्त नहीं किया जा सकता। अध्यात्म के मार्ग में प्रविष्ट होकर और अपने अहंवादी कार्यकलापों को पीछे छोड़ कर व्यक्ति व्यक्तित्व के धरातल के उठकर चराचर जगत् में प्रविष्ट हो जाता है जिसका निर्देश स्वयं परमात्मा जगद्गुरू के रूप में करता है।

इस प्रकार, आत्मा की समस्या वस्तुतः ब्रह्मांड की समस्या है। पूर्णाहंता अतींद्रिय दिव्यता में ही होती है और मानव की स्वयं की खोज से न केवल व्यक्ति की अपनी आध्यात्मिक खोज अनिवार्यतः जुड़ी होती है अपितु वह अवश्यंभावी रूप से कृपालु दैवी शक्ति की उद्धारकारी योजना से एकाकार हो जाती है। जिस प्रकार वैज्ञानिकों की प्राकृतिक सिद्धान्तों की खोज विभिन्न युगों में चलती रहती है और प्राकृतिक दर्शन की प्रणालियों को अप्रचलित कर देती है और वैयक्तिक प्रयासों एवं सामूहिक स्थितियों को एक साथ बाँध देती है; उसी प्रकार आत्मा की साधना आध्यात्मिक अन्वेषण की गहनतर होती प्रक्रिया को आरंभ कर देती है। सत्य की शाश्वतता इसके क्रमशः प्रकटीकरण के अनुरूप होती है और आध्यात्मिक दर्शनों का सत्य अनुभव की उस गहराई से स्वतंत्र नहीं होता जिसकी वे अभिव्यक्ति एवं विश्लेषण करना चाहते हैं।

अब तक के विवेचन से स्पष्ट होगा कि कविराज के आत्मा के स्वरूप की संसृतिशास्त्रीय व्याख्या में ईश्वर की सत्ता केन्द्रीय है। इसका साम्य अधिकांश प्राचीन दार्शनिक प्रणालियों के निरूपण की अपेक्षा मध्ययुगीन निरूपण से ही अधिक है। सांख्य एवं मीमांसा में ईश्वर का विचार अप्रासंगिक है और योग में गौण। यहाँ तक कि वैशेषिक दर्शन भी आरंभिक अवस्था में ईश्वर के प्रति उदासीन ही था। अद्वैत की नितांत मायावादी प्रणाली में भी ईश्वर परम नहीं रह जाता। न्याय दर्शन में भी, जोकि ईश्वर के विचार का प्रमुख समर्थक माना जाता है, ईश्वर का कार्य स्वतंत्र रूप से स्थित अणुओं को गति प्रदान करने तक सीमित है। आगम सम्प्रदायों — शैव, शाक्त एवं वैष्णव — में ही ईश्वर के विचार की भूमिका केन्द्रीय रही है और कविराज ने मुख्य रूप से इसी मार्ग का अनुसरण किया है।

उनका कहना है कि अस्तित्व का दावा करने वाली किसी भी सत्ता में विश्वास की भाँति ईश्वर में आस्था भी इस कारण उत्पन्न होती है कि सरल और अनालोचनात्मक

चित्त में किसी भी उस दावे को स्वीकार करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है जो उसके लाभ के लिए किया जाता है।[७] उदाहरण के लिए वृक्ष पर भूत के रहने की बात सुन कर बालक एकदम उस पर विश्वास कर लेता है, यहाँ तक कि उसकी सत्ता का अनुभव करने लगता है। ईश्वर में आस्था भी बहुत कुछ इसी प्रकार उत्पन्न होती है, अंतर केवल इतना है कि इसमें तर्क दिया जा सकता है कि ईश्वर कोई कल्पानिक वस्तु नहीं अपितु वास्तविक सत्ता है। धर्मशास्त्रों में कही गई बातों की प्रामाणिकता, महापुरुषों और मनीषियों में विश्वास ईश्वर की आस्था के सत्य होने का सर्वाधिक सामान्य आधार है। यद्यपि इस आस्था के समर्थन में पारंपरिक रूप से विभिन्न बुद्धिपरक तर्क भी दिए गए हैं, यह स्वीकार करना पड़ता है कि वे किसी आलोचनात्मक चित्त में आस्था जगाने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। उदाहरण के लिए, रामानुज ने संसृतिशास्त्रीय तर्क की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं किया है।[८] तथापि, कविराज एक अन्य ही प्रकार का तर्क प्रस्तुत करते हैं। विज्ञान ने प्रकृति की एकरूपता के सिद्धान्त को अधिकाधिक रूप से प्रमाणित किया है। संसार को सुसंगत नियम प्रदान करने वाली इस सर्वव्यापी अनिवार्यता का स्रोत क्या है? प्रकृति के भीतर कार्यरत शक्तियाँ अंतर्सबंद्ध होती हैं और उन्हें परस्पर परिवर्तनीय माना जाता है। वैज्ञानिक इन हेतुक शक्तियों को अपने आप में अचेतन मानते हैं, किन्तु तथ्य यह है कि इच्छाशक्ति से उसका रहस्यपूर्ण सम्बन्ध होता है। देखा गया है कि उचित रूप से प्रशिक्षित होने पर मनुष्य की इच्छाशक्ति शारीरिक एवं इतर शारीरिक शक्तियों के ऊपर नियंत्रण स्थापित कर सकती है। उनके बीच अंतर्भूत एकता के बिना यह कैसे सम्भव है? यहाँ कविराज समस्त हेतुक शक्तियों के बीच एकता के आगम सिद्धान्त और एक परम इच्छा के साथ उनके तादात्म्य की बात करते हैं: 'एकैव सा महाशक्तिः', 'इच्छा शक्तिरूमा कुमारी'[९] ऐसी इच्छा का स्रोत ईश्वर ही है।

एक अन्य तर्क कविराज यह देते हैं कि कभी कभी हमें भविष्य का निश्चित ज्ञान हो जाता है। यह तभी सम्भव है जल हमारा चित्त क्षणिक रूप से किसी कालातीत चेतना से एकरूपता प्राप्त कर लेता है जो तत्काल सत्ता के सूक्ष्म अथवा हेतुक क्षेत्र को जान लेता है। ऐसी चेतना केवल ईश्वर ही हो सकता है और भविष्य का ज्ञान होने में उसके साथ सम्प्रेषण निहित है।

वस्तुतः लौकिक परिवर्तन के निरन्तर क्रम की यात्रा में ही किसी शाश्वत चेतना की बात निहित है जो केवल ईश्वर ही हो सकता है और जिससे हमारी निजी चेतना को मूल रूप से जुड़ना होता है ताकि हम समय के प्रवाह को समझ सकें।

इन शुद्ध रूप से तर्कशास्त्रीय तर्कों पर तो विवाद हो सकता है, किन्तु चमत्कारिक कृपाप्राप्ति के निजी अनुभव पर कोई विवाद नहीं हो सकता और यही ईश्वर के अस्तित्व का सबसे प्रभावी प्रमाण है।

किन्तु वास्तविक प्रश्न तो ईश्वर के अस्तित्व का इतना नहीं है जितना कि उसके

स्वरूप का। दो स्पष्ट रूपों में ईश्वर की संकल्पना की गई है — एक ओर तो उसे संसार का उद्भव, स्थिति और संहारकर्ता माना गया है, तो दूसरी और बंधन और मुक्ति का स्रोत। सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह, आगम इन पाँच प्रकायों के संदर्भ में ईश्वर की संकल्पना करते हैं। ईश्वर के अनुग्रह के पीछे कोई हेतुक अनिवार्यता नहीं होती, अपितु पूर्णतः अपनी स्वतः स्फूर्त स्वाधीनता से ही वह इसे प्रदान करता है। ईश्वर की इस कृपा का अनुभव करने के कारण ही, न कि हेतुक अथवा तार्किक रूप से स्वीकार्य बाध्यता के कारण, मनुष्य ईश्वरोन्मुख होता है — ईश्वर कोई अन्य नहीं है अपितु उसका अपना सर्वान्तरिक आत्मा ही है। किसी अन्य के ज्ञान अथवा स्वयं को किसी माध्यम से जानने में कोई भ्रांति अथवा भूल हो सकती है। किन्तु अपने आपको अव्यवहित रूप से जानने में भूल कैसे हो सकती है, भले ही इस अव्यवहितता को प्राप्त करना सरल या तुरन्त सम्भव न हो? सृष्टि, बंधन और मुक्ति की समस्त प्रक्रिया ऐसी है कि वह जो एक है, शाश्वत रूप से नित्य है, फिर भी वह अनेक होता है और आत्म चेतन होकर अनंत रूपों में अपने आप में लौट आता है।

संक्षेप में, कविराज की दृष्टि में दर्शन अनुभव के आधार पर जीवन के रहस्यों को समझने का तर्कबुद्धिपरक प्रयास है। इस अनुभव का क्षितिज अत्यत विस्तृत है जिसमें सहजबोध, दिव्य ज्ञान और परपंरा भी सम्मिलित हैं। इसमें न केवल आलोचनात्मक संशय अपितु आध्यात्मिक उत्कंठा और संवेदनशीलता भी पूर्वमान्य हैं। फिर भी दर्शन अन्वेषण की प्रदत्त दृष्टि और अनुभव एवं ज्ञान के प्रदत्त स्तर के ही सापेक्ष होता है। कविराज के अनुसार आत्मा सर्वव्यापी एवं अतींद्रिय सत्ता है जो आत्मचेतना में अधिकाधिक रूप से प्रकट होता है और जिसे उसकी पूर्णतम विकसित अवस्था में ही भली-भाँति समझा जा सकता है जोकि आध्यात्मिक यात्रा का आदर्श गंतव्य है। द्रव्य अनिवार्यतः आत्मचेतना की प्रतीति और मध्यस्थता का सिद्धान्त है और इसका कार्य आत्मचेतना की अभिव्यक्ति करना और अपनी शुद्धता या अशुद्धता के अनुरूप उसके बंधन या मुक्ति का माध्यम होना है। हेतुकता वस्तुतः इच्छा के कार्यकलाप के अतिरिक्त कुछ अन्य नहीं है, जो अंततः और मूलतः दिव्य होती है। ईश्वर परम आत्मा है जो काल की सीमा में अपने नियमों के अनुरूप कार्य करता है और स्वतंत्रतापूर्वक अनुग्रह प्रदान करता है।

कविराज की धार्मिक धारणाओं का संपूर्ण विन्यास इस आस्था पर आधारित है कि आध्यात्मिक सहज बोध की एक स्पष्ट क्षमता होती है।[१०] कहा जाता है कि एक बार साधु शांतिनाथ, जोकि विख्यात विद्वान एवं संशयवादी थे, कविराज को मिले और उनसे शास्त्रार्थ करना चाहा। साधुशांतिनाथ का तर्क था कि न तो अवबोध से और न ही बुद्धिपरक तर्क से किसी दिव्य सत्ता का अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता है। कविराज ने केवल इतना ही कहा कि साधुजी को आत्मा के भीतर ज्ञान की आंतरिक क्षमता पर

विश्वास नहीं है, जिसके बिना किसी भी आध्यात्मिक सत्ता को प्रमाणित नहीं किया जा सकता। 'भारतीय दार्शनिक चिंतन के इतिहास में प्रायः एक समस्या से सामना होता है जिसका आरंभ बौद्धिक शक्तियों के अपर्याप्त होने की अनुभूति से होता है, जो इस बात की ओर इंगित करती है कि इन शक्तियों के परे स्थित परिघटनाओं के अन्वेषण के लिए एक भिन्न ही क्षमता की आवश्यकता है ...। इसे इंद्रियातीत और निर्विकल्प सम्प्रत्यक्ष कहा जा सकता है, जो सत्य को सीधे ग्रहण करता है।' इस क्षमता को प्रतिभा अथवा प्रज्ञा कहा गया है। यह ऐसे ज्ञान को दर्शाती है 'जो अनुभवजन्य नहीं है न ही उसका स्वरूप अनुमिति का है' इसमें निम्न और उच्च का भेद किया जा सकता है। 'सामान्य भविष्यकथन और पारेंद्रिय ज्ञान इनके पहले प्रकार के दृष्टांत हैं, जबकि दूसरा प्रकार संतों के परम विवेक में दिखाई देता है।' अतींद्रिय ज्ञान के लक्षण हैं अव्यवहितत्त्व एवं गहन स्पष्टता। यह देश और काल की सीमाओं से मुक्त होता है। इसे संवेदनिद्रियों एवं विवाद की आवश्यकता नहीं होती। 'यह मानो एक ही दृष्टि में भूत और भविष्य को उजागर कर देता है, और उसे भी जो अविद्यमान एवं दूरस्थ हो। इसके अन्वेषक प्रकाश से कूछ भी छिपता नहीं। इसके सम्बन्ध में उचित ही कहा गया है कि यह ज्ञान सृष्टि के प्रत्येक पक्ष को आलोकित करने वाला और अनंत होता है (**योगसूत्र**, ३/८४)।' यद्यपि भारतीय दर्शन की विभिन्न प्रणालियों ने ऐसे सहजबोधात्मक ज्ञान के स्वरूप का विवेचन किया है, योग और तंत्र विशेष रूप से सहजबोध के स्वरूप एवं उसके मार्ग की व्याख्या करने के लिए विख्यात हैं। अपने जीवन के उत्तरार्ध में कविराज योग और तंत्र के सिद्धान्त एवं साधना पर अपने अधिकार के लिए विशेष रूप से जाने जाते थे।

दर्शन के उन पक्षों में, जो शाब्दिक एवं तार्किक स्थापनाओं पर अधिक निर्भर होते हैं और सदैव सुविख्यात द्वंद्वात्मक प्रस्थापनाओं में प्रयुक्त होते हैं, कविराज की रुचि उत्तरोत्तर कम होने लगी थी। वे अध्यापक दार्शनिकों के सामान्य विश्लेषणात्मक कार्यकलापों से विरत होने लगे जो आज दार्शनिक यथार्थ के ज्ञान के लिए प्राकृतिक विज्ञान एवं सामान्य बोध पर अधिक आश्रित रहने लगे हैं। वे दर्शन को अनिवार्यतः आध्यात्मिक दर्शन मानते थे जो योग और तंत्र के माध्यम से प्राप्त किए गए अति सामान्य अनुभव के विस्तृत एवं सूक्ष्म विस्तार का विवरण देने का प्रयास करता है। कविराज की व्याख्याओं में योगिक एवं तांत्रिक जीवन की अस्पष्टताएँ एवं प्रहेलिकाएं एक नया ही रूप धारण कर लेती हैं, जो रहस्यपूर्ण होते हुए भी दृप्त हैं।

४

योग विद्या

स्वामी विवेकानंद ने एक बार कहा था, 'धर्मशास्त्र के विद्यार्थी के लिए लगभग निन्यानवे प्रतिशत पुस्तकें एवं धर्मसम्बन्धी चिंतन अनुमान मात्र होते हैं . . .। भौतिकी, रसायन या गणितशास्त्र में आप इस प्रकार अनुमान नहीं करते। धर्म का विज्ञान भी अन्य विज्ञानों की भाँति क्यों नहीं हो सकता?'[१] निस्सन्देह, योग ऐसा ही विज्ञान है। यह सत्तासी वर्ष पहले की बात है। तब से भारत एवं विदेशों की शिक्षण संस्थाओं में योग के प्रति कुछ रूचि उत्पन्न हुई है, किन्तु इसमें योग के साधना एवं चिकित्सा सम्बन्धी पक्षों पर ही अधिक बल दिया जाता है। अधिक आवश्यक तो योग की उस भूमिका पर बल देने की है जो सत्य के यथार्थ के स्वरूप को समझने की दृष्टि में सहायक हो सकती है। कविराज का कहना है कि परात्पर जीवन की सत्ता अथवा उसकी सम्भावना ही प्रायः निष्ठापूर्ण आस्था का विषय न होकर पावन विश्वास का विषय अधिक है। 'हमारे सम्मुख प्रस्तुत सामान्य जीवन से उच्चतर जीवन का ज्ञान तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि योग द्वारा आंतरिक जागृति के फलस्वरूप हमारा सामान्य दृष्टिकोण विस्तृत नहीं हो जाता।'[२] 'भारत ने सदैव दावा किया है कि . . . केवल योग में ही जीवन एवं मन की समस्त समस्याओं के समाधान के साथ परमार्थ की प्राप्ति की कुंजी है।'[३] **'अयं तु परमोधर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्'**[३ए]

योग की समस्या यह है कि इसकी अत्यधिक लोकप्रियता ने ही इसके सम्बन्ध में भ्रांत धारणाओं को फैलाया है। सामान्यतः जिसे योग समझा जाता है वह 'इस महान् विज्ञान का उपहास नहीं तो . . . एक ऐसे जटिल मनः-शारीरिक विषय की क्षीण झलक भर है, वह भी प्रायः कृत्रिम, जो स्वयं सच्चे योग मार्ग का एक अंश मात्र है।'[४]

जैसा कि सर्वविदित है, योग का अर्थ है एक होना या जोड़ना। अत्यंत सामान्य अर्थ में इसकी व्याख्या यों की जा सकती है कि यह निम्न का उच्च से, अपर का पर से संयोग है। **कठोपनिषद्** [५] और **गीता** में सिद्धान्तों की एक सोपानात्मक श्रृंखला बताई गई है। **कठोपनिषद्** में इंद्रियबोध, भौतिक वस्तुओं, चित्त या मन, बुद्धि, महान्, आत्म, अव्यक्त और पुरुष को सिद्धान्तों के ऊर्ध्वगामी क्रम के रूप में दर्शाया गया है।[६] उपनिषद् में कहा गया है कि मनुष्य स्वभाव से ही बहिर्मुखी होते हैं, क्योंकि इंद्रियों की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति हुआ करती है। **'परंचि खानि व्यतृणात् स्वयंभू'**

इंद्रियानुभव को चित्त में, चित्त को भासुर बुद्धि में, उसको सर्वव्याप्त अथवा ब्रह्मांडीय आत्म में और उसको शान्त, स्थिर आत्मा में समेट लेना ही युक्त बुद्धि अथवा योग है। गीता में निम्न सिद्धान्तों को क्रमशः पार करते हुए उच्चतम सिद्धान्त तक पहुँचने की बात कही गई है। चेतना और सत्ता में एक विशाल एवं सोपानात्मक सातत्य होता है। योग चेतना का विज्ञान है जो मानव चेतना को उच्चतर स्तरों तक पहुँचने योग्य बनाता है। इस ऊर्ध्वगामी गमन के प्रत्येक चरण में निम्न का उच्चतर से संयोग होता है, जो निम्न से वियुक्ति भी है।

'योग वस्तुतः जीवात्मा और परमात्मा के बीच तद्रूपता, या कम से कम, सम्प्रेषण, की स्थापना है, जिसमें अस्तित्व के निम्नतर स्तरों पर उचित सम्बन्ध पूर्वमान्य है। उदाहरण के लिए चित्त और विशिष्ट आत्मा के बीच, इंद्रियबोध एवं चित्त के बीच, और भौतिक वस्तुओं एवं इंद्रियबोध के बीच। विशिष्ट (आत्मा) तब तक सामान्य के साथ शाश्वत तद्रूपता स्थापित नहीं कर सकता या उसमें लीन नहीं हो सकता है जब तक कि वह मन की चंचलता से मुक्त नहीं हो जाता क्योंकि भ्रांतिवश वह अपने आपको चित्त के ही तद्रूप समझाता रहता है। इसी प्रकार, चित्त का आत्मा में स्थिरीभूत होना तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि वह समाहित अंतः करण से इंद्रियानुभव की विचलनशील शक्ति से मुक्त नहीं हो जाता। इसी प्रकार निम्नतम स्तर पर, आसक्ति तब तक अपने आपको शान्त नहीं कर सकती और चित्त से एकरूपता प्राप्त नहीं कर सकती, जब तक कि वह वासनाओं और तृष्णाओं और आसक्तियों से अपने को मुक्त नहीं कर लेती। इस प्रकार योगशास्त्र में समस्त सिद्धान्त श्रृंखलाबद्ध श्रेणी में व्यवस्थित किए गए हैं। अतः आध्यात्मिक पूर्णता के निम्नतम स्तर पर सामान्य भाषा में कहा जा सकता है कि योग इंद्रियानुभव को बाह्य संसार से समेट कर उन्हें चित्त में केन्द्रीकृत कर देना है। एक सोपान और ऊपर चढ़ने पर योग चित्त की वृत्तियों का स्थगन और मानो उसके परिणामस्वरूप विशिष्ट आत्मा से उसकी एकरूपता है जिससे वह केवल अपनी गतिविधियों द्वारा ही भिन्न प्रतीत होता है। जब चित्त की वृत्तियां स्थिरीकृत हो जाती हैं तो एक सत्ता के रूप में इसकी भिन्नता पूर्ण रूप से समाप्त हो जाती है।'[19] पतंजलि के सिद्धान्त में यह अंतिम चरण है। तथापि इससे मानो आत्मा का अलगाव हो जाता है। सच्चे अर्थ में योग की उपलब्धि तभी होती है जब अलगाव की दीवार टूट जाती है और आत्मा एक दीप्त, शाश्वत रूप से आत्मचेतन आनंद की सत्ता के रूप में निर्विकार आत्मा में मिल जाता है, जिसमें उसकी सत्ता के दोनों पक्ष अनंत माधुर्य में संयुक्त होकर प्रकट होते हैं। इस प्रकार योग का आरंभ होता है विषयासक्ति के प्रति विरक्ति से, जो अंतः करण की निश्चलता और चिंतन की ओर ले जाती है। चित्त से वियुक्ति आत्मा को एकांत की ओर ले जाती है, जिसका दिव्य के साथ संयोग ही योग और चरमावस्था है।

इस प्रकार, योग चेतना अथवा चित्त का विज्ञान है। यहाँ चित्त अत्यंत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जिसकी सीमा शरीर में कार्यरत जीवनी शक्ति से लेकर विशुद्ध सत्व की दीप्तिमान वस्तु तक है। क्योंकि चेतना प्रत्येक स्तर पर एक विशिष्ट प्रकार की सत्ता से जुड़ी रहती है, अतः एक अर्थ में योग का विज्ञान सत्ता का विज्ञान भी है। यह मात्र विद्या अथवा सिद्धान्त नहीं है, अपितु एक प्रायोगिक विज्ञान अथवा तकनीक (साधना) भी है। यह विज्ञान इस अर्थ में है कि यह सत्य की निरपेक्ष खोज है, और तकनीक इस अर्थ में कि यह चित्त अथवा चेतना के रूपातंरण की पद्धति बताती है।

यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि योग की पद्धति तो आत्मावलोकन की पद्धति है जिसे आधुनिक मनोविज्ञान पहले ही अस्वीकार कर चुका है। कहा गया है कि 'वेदना' जैसे निजी माने जाने वाले तथ्य भी प्रवृत्तियों के अतिरिक्त कुछ और नहीं हैं, कि मन कुछ और नहीं अपितु आकाशवाणी (डेउस एक्स मकीना) ही है। क्योंकि शरीर और शारीरिक व्यवहार ही एकमात्र यथार्थ हैं, अतः निरीक्षण के अतिरिक्त अन्य कोई वैज्ञानिक तरीका हो नहीं सकता। यदि मन या चेतना को भ्रामक शब्द मान लें, तो योग का सम्पूर्ण उद्यम ही विपरीत दिशा में प्रेरित प्रतीत होगा।

ऐसी आत्यंतिक आपत्तियों का प्रत्युत्तर भी इतने ही आत्यंतिक रूप से दिया जाना आवश्यक है क्योंकि मन अथवा चेतना की सत्ता में संशय करने वाले के लिए उसकी सत्ता स्वयंसिद्ध है, अतः संशय करने वाले के मन में मन की इस स्वयंसिद्ध सत्ता के अतिरिक्त कोई अन्य आध्यात्मिक संकल्पना भी होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त शारीरिक अवस्था के किसी भी विवरण का मन में चल रहे विचार से थोड़ा भी साम्य नहीं होता। अतः व्यवहारवादी मनोविज्ञान की आपत्तियाँ केवल उन्हीं लोगों को आकर्षित करेंगी जो कट्टर भौतिकवाद की अत्यन्त हठधर्मितापूर्ण प्रस्थापना के प्रति प्रतिबद्ध हैं। सच तो यह है कि प्रकृतिवादी मनोविज्ञान की सीमाओं को जानने के लिए शुद्ध अपार्थिव घटना-क्रिया-विज्ञान का सहारा लेना होगा।

यह स्वीकार करते हुए भी कि मन की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, यह सम्भव है कि कोई अपने ही मन का निरीक्षण करते समय उसकी वस्तु को बदल दे, जैसा कि मनोविश्लेषण में दर्शाया गया है। इसके अतिरिक्त मन का पर्याप्त अंश अचेतन के रूप में प्रच्छन्न रह सकता है। ये ठोस समस्याएं हैं जिनका योगिक साधना में व्यवस्थित रूप से सामना करके उन पर विजय पा ली गयी है। योग में एक स्वस्थ एवं समेकित व्यक्तित्व की पूर्वकल्पना रहती है जिसमें निजी चिन्ताओं एवं पूर्वग्रहों से पर्याप्त तटस्थता होती है।

आध्यात्मिक जीवन की पारम्परिक प्रणालियों के प्रतिद्वंदी पक्षधरों ने योग की सीमाओं को भी दर्शाया है। ऐसा प्रतीत होता है कि योग बहुत कुछ तो ऐसी गतिविधि है जिसे व्यक्ति आरम्भ और नियंत्रित करता है। अतः ज्ञान और भक्ति के पक्षधरों के

लिए यह चित्त के शुद्धिकरण अथवा दृढ़ीकरण में सहायक उपाय ही हो सकता है। विशेष रूप से यहाँ योग का तात्पर्य अधिकांशतः उसी के सातत्य के रूप में लिया जाता है जिसे पहले अन्तर्यग अथवा उपासन कहा जाता था, अर्थात् विभिन्न प्रकार के प्रतीकों के माध्यम से मानसिक अथवा ध्यान की पूजा-उपासना। माना जाता था कि इस प्रकार की पूजा से चित्त एकाग्र होता है और उदात्त होकर शुद्ध हो जाता है। यदि ईश्वर भक्ति में ही एकाग्रचित्त हो कर ध्यान किया जाए तो उससे भगवत्कृपा की प्राप्ति हो सकती है। यदि आत्मा के सच्चे स्वरूप का ध्यान किया जाए तो उससे स्वतः स्फूर्त ज्ञान प्राप्ति का आधार तैयार होगा। तथापि, इन आरोपों में योग के स्वरूप का गलत अर्थ लगाया गया है। क्रिया योग अथवा कर्म योग तो योग की पूर्वपीठिका है, यद्यपि यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार ईश्वर भक्ति भी योगसूत्र द्वारा निर्देशित साधनाओं में एक है। अपने आप में ये योग के मूल स्वरूप को नहीं दर्शाते। एक प्रक्रिया के रूप में योग चेतना का ऊर्ध्वगमन है जिसमें वियुक्ति एवं पुनर्संयोग साथ-साथ होता रहता है। इस प्रक्रिया में विभिन्न प्रकार के साधन प्रयुक्त हो सकते हैं, जिन्हें कभी-कभी विशिष्ट प्रकार के योग का नाम दे दिया जाता है यथा, हठयोग प्राणिक ऊर्जा को शुद्धि, एकाग्रता और सामंजस्य प्रदान करता है। राजयोग या ध्यान योग चेतना के प्रवाह को नियंत्रित और एकाग्र करता है और सही दिशा में प्रवाहित करता है। सामान्य प्रकाश की भाँति सामान्य चेतना भी विभ्रांत और असम्बद्ध होती है। सुसंबद्ध हो जाने पर इसमें लेसर जैसा गुण उत्पन्न हो जाता है जो किसी भी उस वस्तु को भेद सकता है जिस पर उसे साधा जाए। इसका स्तर इन्द्रियानुभव, कल्पना या विश्लेषण से उठकर सहजबोध के स्तर तक जा पहुँचता है।

यद्यपि पतंजलि ने जप और स्वाध्याय को क्रिया योग ही माना है, उत्तरवर्ती साधना ने प्रमाणित किया है कि जप निम्नतम से लेकर उच्चतम स्तर तक, योग की प्रक्रिया को आरम्भ करने एवं बनाए रखने के लिए पूर्णतः अनुकूल पद्धति है। कविराज ने जप की प्राचीनता एवं सर्वव्यापकता पर बल दिया है। उनकी यह भी मान्यता है कि ईश्वर प्रणिधान के सन्दर्भ में प्रणव का तात्पर्य केवल प्रणव से न होकर गुरुदत्त किसी भी मंत्र से हो सकता है। ध्यान की विभिन्न अवस्थाओं में शब्द के विभिन्न अर्थ मिलते हैं, सवितर्क के स्थूल शब्द से लेकर पश्यन्ती शब्द तक, निर्विकार की पूर्णता में प्रज्ञा की पराकाष्ठा होने तक।

लययोग, नादानुसंधान योग, कुंडलिनी योग, सिद्ध योग इत्यादि योग की मूल अवधारणा के ही विभिन्न प्रकार हैं। उनमें भेद केवल यही है कि वे भिन्न बिन्दुओं से आरम्भ होते हैं और अलग अलग अवस्थाओं पर बल देते हैं। कुंडलिनी योग में योगिक और तांत्रिक साधनाओं का सम्मिश्रण होता है और इसमें एक विशद प्रतीकात्मक प्रणाली के अनेक रूप मिलते हैं। चित्त का स्वरूप आकाश की भांति होता है, दैदीप्यमान

एवं शून्य (भास्वरं आकाशकल्पम्) जिस सीमा तक इसे बाह्य वस्तुओं से हटाया जाता है, उसी सीमा तक कहा जा सकता है कि वह शून्य (सुषुम्ना) के सीधे मार्ग में प्रविष्ट हो गया है। सामान्यतः यह पुष्टि एवं नकार के द्वंद्वात्मक युगल के माध्यम से कार्य करता है। इन वृत्तियों के छूट जाने को भी शून्यत्व की उपलब्धि कहा गया है। शून्यावस्था में वायु के वेग से उत्पन्न होने वाली ध्वनियां, मुखर भाषा के ध्वनिसंवादी तत्त्व स्थगित हो जाते हैं और उनका स्थान नाद ले लेता है।

संप्रज्ञात एवं असंप्रज्ञात योग के बीच महत्त्वपूर्ण भेद है। कविराज बौद्धों के प्रतिसंख्या-निरोध एवं अप्रतिसंख्या-निरोध को इनका समकक्ष मानते हैं। योग को प्रायः चित्तवृत्ति-निरोध कहा जाता है। यह निरोध दो प्रकार से हो सकता है। इसका उद्‌भव किसी प्रकार के शरीरक्रियावैज्ञानिक अथवा मनोवैज्ञानिक कारण से हो सकता है। ऐसी स्थिति में इसे योग न कहकर भाव-प्रत्यय कहा माना चाहिए। दूसरी ओर, जब योग उपाय का परिणाम हो तो उसे उपाय-प्रत्यय कहा जाता है। ये उपाय हैं श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा। जब संप्रज्ञात के पश्चात् असंप्रज्ञात आए तभी वह सच्चे अर्थ में योग हो सकता है। चित्त के वृत्ति परिवर्तन का कारण कामना है जो मूलविद्या जनित है। जब तक अज्ञान का नाश नहीं होता कामना का नाश नहीं किया जा सकता और जब तक ऐसा नहीं होता चेतसिक वृत्तियों की समाप्ति निश्चयपूर्वक नहीं हो सकती। मानसिक निश्चेष्टता की साधना मात्र करके और कामना के आदेशों को अनसुना करके ही आभासिक शान्ति की अवस्था प्राप्त की जा सकती है और यदि इस अवस्था में किसी की मृत्यु हो जाए तो वह एक प्रकार से स्थगित-चैतन्य की अवस्था प्राप्त कर लेता है। यह स्थायी या परम मूल्यवान अवस्था नहीं है। इच्छित लक्ष्य केवल निषेधात्मक नहीं होता, और अशाश्वत तो कदापि नहीं।

इस पर तो सभी सहमत हैं कि योग की चरम उपलब्धि के लिए ज्ञान अपरिहार्य है, किन्तु इस ज्ञान का स्वरूप क्या हो, इस पर विवाद रहा है। यह तो सामान्यतः स्वीकार किया जाता है कि इस ज्ञान में आत्म और अनात्म के बीच भेद होता है, यद्यपि कहा जाता है कि बौद्ध इसे प्रत्येक वस्तु के अनात्मत्व की उपलब्धि मानते हैं। फिर भी यह प्रश्न तो उठता ही है कि प्रत्येक वस्तु से तात्पर्य क्या है? इसका एक सुज्ञात उत्तर तो यह है कि प्रत्येक वस्तु से तात्पर्य बारह आयतनों अर्थात् चित्त सहित संवेदनिन्द्रियों एवं उनके भौतिक पदार्थों से है। वस्तुतः तब भी ज्ञान का तात्पर्य समस्त भौतिक एवं मानसिक परिघटना के अनात्मत्व के ज्ञान से ही होगा। उनके साथ आत्मा का अन्यीकरण उसे कैवल्य की अवस्था में ले जाएगा। यह अवस्था निश्चय ही अनुक्रमणीय अपवर्ग अथवा संसार की निवृत्ति की अवस्था है। अनेक प्राचीन दार्शनिक प्रणालियाँ इसको आध्यात्मिक उत्कृष्टाकांक्षा का ध्येय मानती हैं। सांख्य, पातंजल योग, न्याय वैशेषिक, बौद्धों के हीनयान सम्प्रदाय की दार्शनिक प्रणालियाँ, सब मोक्ष की

अवस्था को मुक्त व्यक्ति की विविक्ति या निषेध की अवस्था भी मानती हैं (जैसे कि सौत्रांतिक मानते हैं) किन्तु महायानी, पाशुपत, शैव, शाक्त, भागवत एवं अनेक अद्वैत वेदांती इस पर शंका करते हैं। कविराज स्पष्टतः इन्हीं के पक्षधर हैं। उनका कहना है कि आत्मा की विविक्ति आध्यात्मिक यात्रा का एक पड़ाव मात्र है, जब वह सांसारिक एषणाओं एवं अपने कर्मों के दांव से मुक्त हो जाता है किन्तु इस अवस्था में उसे अपनी स्वाभाविक शक्तियां एवं पारभौतिक अवस्थिति प्राप्ति नहीं होती। क्लिष्ट अज्ञान के नाश से अक्लिष्ट अज्ञान का नाश निश्चित नहीं होता। उदाहरण के लिए, महायान सम्प्रदाय में माना जाता है कि बोधिसत्व की त्राता भूमिका के लिए विशुद्ध ज्ञान एवं शक्तियों को प्राप्त करना आवश्यक था। कविराज के अनुसार आध्यात्मिक सत्ता एक ही है, यद्यपि अपनी अनन्त शक्ति एवं स्वातंत्र्य के कारण वह सृष्टि की लीला एवं उद्धार में प्रवृत्त होती है। जब आत्मा विशेष का अज्ञान दूर हो जाता है तो वह दिव्यता प्राप्ति की दिशा में अग्रसर अन्य आत्माओं के साथ अपनी एकरूपता को पहचानने लगता है। कहने का तात्पर्य यह कि योग की प्रक्रिया केवल प्रातिभासिक वियुक्ति एवं संकोचन की प्रक्रिया ही नहीं है अपितु वह तद्रूपता, पूर्णत्व एवं विततिं की प्रक्रिया भी है। इसका अर्थ यह भी है कि सार रूप में योग की क्रिया केवल ऊर्ध्वगमन की ही नहीं अपितु अधिगमन की प्रक्रिया भी है और श्री अरविन्दो ने इस बात पर प्रभूत बल दिया है। इस विषय पर कविराज ने अपने विचार अपने सुविख्यात किन्तु दुरूह ग्रन्थ **अखंड महायोग** में व्यक्त किए हैं।

युगों से अमरता एवं पूर्णता की खोज में मानव आत्मा काल को जीतने का प्रयास करता रहा है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए समय-समय पर विभिन्न उपाय सोचे गए, किन्तु जहाँ कुछ व्यक्तियों ने इस लक्ष्य को पा लेने का दावा किया है, वहीं प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने रक्तमाँस के अस्तित्व को सुखाकर या निष्कंप लौ में अपने आपको लीन करने की प्रक्रिया के माध्यम से ही ऐसा किया है। यह तो व्यक्ति की भी पूर्णता प्राप्त करना नहीं है, समस्त प्राणियों की पूर्णता प्राप्त करने की तो बात ही व्यर्थ है। अखंड महायोग का लक्ष्य है परमपूर्णत्व की प्राप्ति, जहाँ समस्त मानव एक अनन्त शुद्ध सत्ता से जुड़ जाते हैं, ताकि सबको एक अखंड पूर्णत्व मिले जिसमें पूर्ण सत्ता की अन्विति को प्रभावित किए बिना अनन्त भेद रह सकें और जहाँ पूर्ण सामरस्य एवं सहयोग हो। द्रव्य का वहाँ अध्यात्मीकरण होगा, काल निःशेष हो जाएगा, निजी चित्त अपनी अस्मिता खोए बिना साधारणीकृत होगा और सामान्य चेतना में मिल जाएगा। इस योग के लिए प्रयत्न और भगवत्कृपा, दोनों ही, आवश्यक हैं। इसमें महामाया के उच्चतम स्तर तक पहुँचना होता है किन्तु ऐसा हृदय लेकर जो प्रेम और कृपा के लिए खुला हो। सिद्धान्त रूप में तो यह पहले ही प्राप्त किया जा चुका है, और ऐसे बिन्दु तक अधोगमन भी हो चुका है जहाँ मानव के लिए केवल इतना करना

शेष है कि वह सच्चे हृदय से दिव्यात्मा को पुकारे। जगजननी प्रतीक्षा कर रही है, मानव को केवल अपना हृदय खोलना है। इससे हृदयों का मिलन एवं उनका भासुर रूपान्तरण सम्भव होगा। तभी मानवता अपने आपको सच्चे अर्थों में पहचान सकेगी। उस उषावेला में जीवन कितना आनन्दमय होगा।

यहाँ यह आपत्ति की जा सकती है कि हम विज्ञान एवं मन की संकल्पना से बहुत दूर निकल आए हैं। ऐसा भी प्रतीत हो सकता है कि इस अर्थ में तो योग कल्पना की उड़ान मात्र है या कि यह तो अस्पष्ट तत्त्वज्ञान अथवा रहस्यात्मक सिद्धान्त है। कविराज का कहना है कि सम्भव और असम्भव, कल्पना और यथार्थ के बीच का अन्तर ज्ञानसापेक्ष है। आधुनिक विज्ञान के चमत्कार पूर्वयुग में असम्भव प्रतीत होते। योग के रहस्य भी कुछ कम आश्चर्यजनक नहीं है और वे केवल चिन्तन का विषय ही नहीं अपितु व्यावहारिक अनुभव का विषय हैं। वस्तुतः **अखंड महायोग** सूर्यविज्ञान पर आधारित है जिसके व्याख्यात थे श्री श्री विशुद्धानन्दजी। वे केवल सूर्य के प्रकाश की सहायता से ही एक वस्तु को अन्य वस्तु में रूपान्तरित करके दिखला सकते थे। जैसा कि एक महान् आधुनिक भारतीय दार्शनिक ने कहा है योगविभूति के बिना योग व्यर्थ है।

इस व्याख्या से चमत्कारों की सम्भावना एवं योग से उनके सम्बन्ध का प्रश्न उठ खड़ा होता है। योग के कतिपय आधुनिक व्याख्याकारों का कहना है कि यह तो शारीरिक स्वास्थ्य एवं मानसिक सन्तुलन का विज्ञान है, जिसमें चमत्कार चिकित्सा का अंग मात्र है। चमत्कारों पर अविश्वास इस कारण किया जाता है कि उन्हें प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध माना जाता है। जब यह ज्ञात हो चमत्कार भी नियमों के ही अनुसार होते हैं, यद्यपि ये नियम सामान्य भौतिक स्तर पर दिखाई देने वाले नियमों की अपेक्षा यथार्थ में कहीं गहरे पैठे रहते हैं, तो यह अविश्वास समाप्त हो जाएगा। योग की चमत्कारी शक्तियां विभिन्न स्तरों पर एक विशेष क्रम में और विशेष नियमों के अंतर्गत उत्पन्न होती हैं। वे प्रकृति में विशृंखलता उत्पन्न नहीं करती अपितु उसकी संरचना की अप्रत्याशित सूक्ष्म गहराइयों को प्रकट करती हैं। इसके अतिरिक्त, जैसा कि आधुनिक विज्ञान के दृष्टान्त से सर्वविदित है, जैसे जैसे योग का विज्ञान आगे बढ़ता है और गहन होता जाता है वैसे ही वैसे सिद्धान्त और साधना का अंतरावलंबन भी बढ़ता जाता है। अत्यन्त दुरूह गणितीय सिद्धान्त के समुचित ज्ञान के बिना आधुनिक भौतिकी का प्रयोगात्मक पक्ष नितान्त दुर्बोध होगा। योग के सम्बन्ध में भी यही बात है। जब तक इसके सिद्धान्त का ज्ञान न हो इसकी साधनओं को समझना कठिन है। अतः इसके सिद्धान्त को धर्मशास्त्र, राद्धान्त अथवा कल्पना का हस्तक्षेप नहीं समझना चाहिए।

जैसा कि पहले कहा गया है, योग के सिद्धान्तों की व्याख्या विभिन्न दृष्टिकोणों से की गई है। इनमें प्रमुख हैं सांख्य, वेदान्त, बौद्ध दर्शन, जैन दर्शन और विभिन्न

आगम। इस मान्यता पर सभी एकमत हैं कि इन्द्रियानुभव के संसार का मोह मानव चेतना को कलुषित कर देता है और योग उसे पुनः उसकी मूलावस्था में ले आता है। तथापि इस प्रक्रिया में उसकी मानव अस्मिता एवं निजता लुप्त हो जाती है। किन्तु मानवता, कुल मिलाकर, अपरिवर्तित ही रहती है। द्वैतवादी एवं ईश्वरवादी दार्शनिक प्रणालियां भी चिर आनन्द एवं अस्मिता के संरक्षण का आश्वासन देते हुए मृत्यु पश्चात् इस स्वर्ग के संसार की उपलब्धि की बात करती हैं। जीवन मुक्ति की बात करने वाले इस अवस्था में मृत्यु की सीमा को स्वीकार करते हैं। अखंड महायोग में कविराज का दृष्टिकोण शुद्ध निवृत्ति अथवा निजी मोक्ष को सच्चे मानवतावादी मूल्यों की अवमानना मानता है। योग का लक्ष्य परम पूर्णत्व प्राप्त करना है। जिसका तात्पर्य है सबका पूर्णत्व और पृथ्वी का रूपान्तरण। मानव पूर्णता का तात्पर्य भी यही है कि चेतना के साथ-साथ शरीर और चित्त भी रहने चाहिए ताकि पूर्ण एवं दिव्यता प्राप्त मानव संसार में आत्मा अपने सच्चे स्वरूप को प्राप्त कर सके। मानव का मूल स्वभाव है चित्त को निजी रूप से अपने अधिकार एवं नियंत्रण में रखना, जिसके लिए शरीर का अस्तित्व पूर्वमान्य होता है। मानव स्वभाव की पूर्णता इसी में है कि चित्त विशेष विकसित होकर सर्वव्यापकता में परिवर्तित हो और शाश्वत सामान्य चेतना से उसका मिलन हो। तब काल का विध्वंसक पक्ष और द्रव्य का अभावात्मक एवं बाधाकारी स्वरूप समाप्त हो जाएंगे। शरीर चित्त का परावर्ती साधन होगा और चेतना को रूपाकार प्रदान करेगा। लोगों के बीच सुदीर्घ मैत्री स्थापित होगी।

इस धारणा का महायानी धारणा से इस अर्थ में साम्य है कि इसमें भी सबकी पूर्णता की बात कही गई है, केवल निजी मुक्ति की नहीं। जगद्गुरु को जो भूमिका इसमें प्रदान की गई है वह भी बुद्ध एवं अप्रतिष्ठित निर्वाण का स्मरण कराती है। फिर भी अखंड महायोग एवं महायान में बहुत बड़ा अन्तर है। महायान में तो वैयक्तिकता को हो भ्रामक मान कर नकार दिया गया है तांत्रिकों एवं हठयोगियों ने भौतिक अमरत्व की समस्या से जूझने का प्रयास किया है, किन्तु उनकी धारणा है कि यह अमरत्व हाड़-माँस के शरीर अथवा चिन्तन या विज्ञानमय चेतना के संरक्षण से सम्बद्ध नहीं है। विभिन्न तांत्रिक एवं वैदिक साधनाओं में मृत्यु पश्चात् देवताओं से सम्पर्क की रीतियां बताई गई हैं। देवताओं का अमर आध्यात्मिक अस्तित्व होता है, किन्तु उनमें चिन्तनशील बुद्धि का अभाव होता है जिसके फलस्वरूप वे स्वेच्छया सक्रिय रूप से मानव कार्यकलापों में हस्तक्षेप नहीं कर सकते। कतिपय अद्वैतवादी वेदान्तियों की धारणा रही है कि यदि कोई जीवनमुक्त संप्रज्ञात समाधि की अवस्था में बना रहे तो उसके शरीर का रूपांतरण सम्भव है, किन्तु ऐसे प्रयास के प्रति वे उदासीन ही रहे हैं।

योग की ये सब प्राचीन पद्धतियां ज्ञान के माध्यम से, अर्थात् चित्त को स्थिर करके, ताकि चेतना अपनी अनन्तता में डूब जाए, मानव स्थिति से निजी मुक्ति का उपाय

करती हैं। वे सम्पूर्ण मानव जाति को ही रूपान्तरित करने अथवा उसकी स्थिति को पूर्णता प्रदान करने का प्रयास नहीं करतीं। यद्यपि वे जानती हैं कि चित्त के दुख अन्तर्जात नहीं होते, फिर भी वे शरीर को अनुद्धार्य और शुद्ध चेतना के लिए अनावश्यक मानती हैं। वे चिन्तन को महत्त्व नहीं देते और जब वे भावना को महत्त्व देते हैं तो, मृत्यु से परे एक मानवेतर जगत् में इस के लिए नित्य गेह ढूँढना चाहते हैं।

ऐसी आलोचना का प्रत्युत्तर स्पष्ट है। मानव के लिए अमरत्व एवं शान्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है चेतना की अनन्तता में लीन हो जाना, जिसे कुछ लोग आनन्द की अवस्था मानते हैं। क्या भौतिक अमरत्व अथवा काल के निःशेष हो जाने का कुछ अर्थ है? क्या वस्तुओं के स्वरूप को बदलने की बात करना अर्थवान है? भौतिक संसार को आध्यात्मिक संसार में किस प्रकार रूपान्तरित किया जा सकता है? मानव चित्त को निजी एवं स्वैच्छिक प्रयास के अतिरिक्त किस अन्य प्रकार से बदला जा सकता है, भले ही इसमें सामाजिक अभिकरणों की शैक्षिक भूमिका हो? योग की महान् पद्धतियां एवं प्राचीन सिद्धान्त वस्तुओं के स्वरूप की सीमा के भीतर ही मानव की सहायता करने का प्रयास करते हैं। मानव शरीर दूषणीय हैं, मानव चित्त वासनाओं के अधीन हैं, और ये दोनों मिलकर एक ऐसी प्रक्रिया को जन्म देते हैं जो मृत्यु में ही समाप्त होती है, किन्तु पुनर्जन्म के माध्यम से चलती रहती है। मानव के उद्धार का एक ही मार्ग है और वह है संसार से विमुख होकर समयातीत और शान्त आध्यात्मिक सत्ता की ओर उन्मुख होना। अनिच्छा बत संखारा। चित्त को इस प्रकार विमुख करने के लिए योग की रस-सिद्धि आवश्यक है।

कविराज का कथन है कि शाश्वत चेतना की शान्ति उस दिव्य सत्ता का एक पक्ष मात्र है जो अपनी पूर्णता में धरती पर विज्ञान के रूप में अवतरित होने के लिए प्रतीक्षारत है — विज्ञान जो ज्ञान से कहीं बड़ा है क्योंकि इसमें ऐसी शक्तियां हैं जो मानव बुद्धि से परे हैं किंतु जो मानव हृदय की पूर्णता के लिए आवश्यक हैं। यह दृष्टिकोण श्री अरविंद के दृष्टिकोण से बहुत साम्य रखता है, यद्यपि दोनों की संकल्पनात्मक योजनाएं भिन्न हैं। कविराज की योजना में परम मिलन को समस्त वस्तुओं का आधार एवं स्रोत माना गया है। पुनः समस्त सर्जित वस्तुओं को दो भागों में विभाजित किया गया है, अर्थात प्राण या प्रकाश और काल अथवा अंधकार। ध्वनि एवं लययुक्त चेतना प्राण है, जबकि काल निष्क्रिय एवं निश्चेष्ट होता है। प्रकाश और अंधकार, दोनों में ही चित्त सुप्तावस्था में विद्यमान रहता है, यद्यपि उसके अंधकारमय पक्ष के सम्बन्ध में बहुत कम ज्ञात है। इसका स्रोत प्रकाश और अंधकार की मिलन रेखा का क्षण होता है। मानव का निर्माण तीन तत्त्वों से होता है—प्राण, मन और देह। शरीर की मृत्यु होने पर मन तो सुषुप्तावस्था में चला जाता है और प्राण सर्वव्यापी प्रकाश में मिल जाता है। मानव हृदय की सच्ची साधना संसार से पलायन कर प्रकाश में मिल जाने

के लिए नहीं है अपितु अपने बोध एवं आध्यात्मीकरण के लिए स्वेच्छया उसका माध्यम बनने की है। क्षण को पकड़कर और जगजननी के प्रति समर्पण करके ऐसा किया जा सकता है। जिस प्रकार पारंपरिक रूप से माना जाता है कि मानव कर्मों का समवेत बल ही ब्रह्माण्ड को चालित करने वाली यथार्थ शक्ति है, उसी प्रकार अखंड महायोग के सिद्धांत की मान्यता है कि युगों से मानव हृदय की पुकार और संतों, तपस्वियों एवं योगियों के प्रयासों में इस परम सत्ता, को धरती पर अवतरित होने की इच्छुक जगज्जननी के सौम्य रूप में रूपांतरित करने की शक्ति है।[१०]

द्रष्टव्य है कि इस सिद्धांत में संपूर्ण विश्व की रहस्यात्मक एवं गुह्य चिंतन की परंपराओं को सार रूप में ग्रहण कर विकसित करने का प्रयास किया गया है। इसमें न केवल भारतीय अपितु यूनानी, मसीही और इस्लामी तत्त्वों का भी समावेश है। इसकी मान्यता है कि आध्यात्मिक सिद्धांत विकासमान आध्यात्मिक अनुभव पर आधारित होते हैं और उनके पुनरावलोकन की आवश्यकता होती है। योग एक सच्चा विज्ञान है जो युगों से अनेक दिशाओं में विकसित होता रहा है, किंतु इसकी वर्तमान सीमाएं कतिपय प्राचीन पद्धतियों से परे चली गई हैं। अखंड महायोग ऐसी ही संशोधित प्रणाली को स्पष्टतः सरल ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास है। प्रामाणिकता के इसके दावे के सम्बन्ध में जो भी निर्णय हो, इसमें संदेह नहीं कि इसके आध्यात्मिक मानववाद का आधुनिक दृष्टिकोण से सामंजस्य है। योग के साथ लगा हुआ विशेषण 'अखण्ड' दर्शाता है कि यह मानव जाति की अटूट शृंखला पुनः स्थापित करना चाहता है और इसका सम्बन्ध संपूर्ण मानवता से है, अलग अलग व्यक्तियों से नहीं। पूर्ववर्ती आध्यात्मिक कार्यक्रमों की तुलना में यही बात अपने आप में एक क्रांति है। भिन्न शरीरों और चित्तों के कारण विभिन्न मानव समय के प्रवाह में तैरते द्वीपों की भाँति भिन्न आत्माएं प्रतीत होते हैं। वे केवल बाह्य सामाजिक सम्बन्धों के क्षीण तंतुओं से ही परस्पर जुड़े हुए प्रतीत होते हैं, हाँ यह अलग बात है कि कोई इस धारणा को माने कि मानव स्वभाव अनिवार्यतः सामाजिक सम्बन्धों से निर्मित है। ऐसी समाजकेंद्रित धारणा तार्किक रूप से स्वयं निजता को ही समाप्त कर देती है, यद्यपि यह सामाजिक यांत्रिकी के माध्यम से मानव प्रगति का मार्ग प्रशस्त करती है। यदि मनुष्यों के बीच की बाधाओं को भ्रांति मान लिया जाए, तो स्वयं निजता ही संकट में पड़ जाती है। अखंड महायोग में मनुष्यों को जोड़ने वाला एक मूल सिद्धांत है किंतु इस एकता को साकार करने की आवश्यकता है। एक आत्मा को ही अभी पूर्णरूपेण आविर्भूत होना है। विश्वप्राण, महाप्राण अभी तक सच्चे अर्थों में निजी चित्त से एकाकार नहीं हुआ है। विज्ञान का आविर्भाव होना अभी शेष है। मानव एकता यथार्थ न होकर आदर्श ही है। इसकी तुलना सामान्य सत् की निजी वृत्तियों से की जाती है किंतु यह किसी वृहत्तर आत्मा की खोज की भांति कुछ अधिक है।

यदि अखंड विशेषण का सम्बन्ध योग की क्षितिजीय विततिं है तो उपसर्ग महा इसके ऊर्ध्वगामी विस्तार को दर्शाता है जो अकेले चित्त को विश्वात्मा से मिलन की ओर ले जाता है और जगजननी के आविर्भाव का मार्ग प्रशस्त करता है।[११]

यह सब केवल योगिक नियंत्रण एवं चित्त और शरीर की विजय के माध्यम से ही सम्भव है — चित्त और शरीर जो ब्रह्माँड के प्रतीक हैं। यही अखंड महायोग के कर्म और ज्ञान खंड हैं, जिसके पश्चात् हृदय (भाव) का खुलना और समर्पण आता है। इस सब की तकनीक योग की प्राचीन परंपराओं में मिलती हैं जिनमें उन विभिन्न क्षेत्रों और दिशाओं का भी विवरण है जिनमें ये तकनीकें योग के साधक को ले जा सकती हैं। अखंड महायोग की सबसे बड़ी विशेषता है इसकी दृष्टि और लक्ष्य। इस कारण यह योग को एक नई दिशा प्रदान कर सका है। तथापि, काल और मृत्यु को विजित करने एवं मानवता को दिव्य बनाने की इसकी आशा जगजननी का आविर्भाव पर ही टिकी है जो केवल माँ की कृपा के माध्यम से ही सम्भव है। हृदय की सच्ची पुकार ही इसका परमास्त्र है।

५

तंत्र : सिद्धांत और साधना

इस बात को सब जानते और मानते हैं कि आधुनिक युग में कविराज जैसा तंत्र का ज्ञाता अन्य नहीं हुआ है। उन्होंने तंत्र सम्बन्धी विशाल प्रकाशित एवं अप्रकाशित साहित्य का अध्ययन ऐसी सूझबूझ से किया था जो पारंपरिक विद्वत्ता एवं व्यावहारिक अनुभव से ही उत्पन्न होती है। साथ ही वे आलोचनात्मक इतिहास लेखन में भी निपुण थे। उन्हीं के कहने पर और उन्हीं के मार्गदर्शन में उत्तर प्रदेश सरकार की हिंदी समिति ने तांत्रिक साहित्य की एकमात्र उपयोगी ग्रंथसूची बनाई और प्रकाशित की।

आधुनिक काल में तंत्र के अध्ययन का आरंभ श्री श्री शिवचंद्र विद्यार्णव एवं उनके शिष्य सर जॉन वुडरोफ़ के प्रयासों में मिलता है जिन्हें बाद में स्वामी प्रत्यगात्मानंद सरस्वती ने अपने जपसूत्रों में व्यवस्थित रूप प्रदान किया। कतिपय अन्य विद्वानों ने भी तंत्र, विशेष रूप से बौद्ध तंत्रों, के आंशिक ऐतिहासिक अध्ययन के प्रयास किए हैं। दुर्भाग्य से, विनयतोष भट्टाचार्य या एस. बी. दासगुप्त जैसे लेखकों के सुलझे हुए लेखन को छोड़कर इनमें से अधिकांश लेखन किसी ग्रंथ के आलोचनात्मक संपादन अथवा शाब्दिक अनुवाद के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ में महत्त्वपूर्ण नहीं है। फिर भी अनेक ग्रंथ ऐसे हैं जो प्रकाशित ही नहीं हुए हैं और प्रकाशित ग्रंथों में भी पाठ सम्बन्धी अस्पष्टताएं मिलती हैं। ऐसी स्थिति में कविराज का लेखन ही सर्वोत्तम एवं निरापद मार्गदर्शक है।

तांत्रिक साहित्य की प्राचीनता के सम्बन्ध में अनेक धारणाएं हैं। प्रो. पी. सी. बागची की शोध दर्शाती है कि गुप्त काल के अंत तक दक्षिण पूर्वी एशिया तांत्रिक संहिताओं से भली-भाँति परिचित हो चुका था। अतः उनके आरंभ को गुप्त युग के पूर्व ही मानना चाहिए। गुह्य समाज जैसे बौद्ध तंत्र गुप्त युग पूर्व के ज्ञात होते हैं। वतर्मान, शैव, शाक्त या बौद्ध, तांत्रिक रचनाओं ने गुप्त युग के बाद ही विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया, स्पष्ट है कि इस साहित्य का आरम्भ बहुत पहले हो चुका था। तंत्र साहित्य की स्थिति बहुत कुछ पुराणों की भाँति है जिन्हें अपना वर्तमान स्वरुप अनेक स्तरों पर कुषाण, गुप्त और उत्तर गुप्त काल में मिला। तथापि इसमें कोई संदेह नहीं कि पौराणिक परंपरा वैदिक युग तक जाती हैं यद्यपि यह प्राचीन पौराणिक साहित्य आज अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं है। कदाचित् तांत्रिक साहित्य के साथ भी ऐसा

ही हुआ है। **महाभारत** में पाशुपत एवं पांचरात्रों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है, और उनके आगम भी किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहे होंगे। सामान्यतः यह माना जाता है कि इन संप्रदायों के साहित्य के वाममार्गी होने के कारण वेदोत्तर काल में जाकर ही वे उभर कर सामने आ सके। यह मानने के कारण हैं कि पशुपति एवं मातृदेवी की पूजा सिंधु घाटी सभ्यता में भी मिलती है, सम्भव है कि पाशुपत एवं शाक्त परंपराओं के तत्त्व वैदिक युग से पूर्व भी विद्यमान रहे हों, यदि वेदों को हड़प्पा सभ्यता के बाद की रचना माना जाए। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि आगम परंपरा का उद्भव मिश्रित रूप से पूर्ववैदिक, वैदिक और उत्तरवैदिक काल में रहा है। यह परंपरा अपने वर्तमान सुरक्षित साहित्य से कहीं प्राचीन है। वाममार्गी होने के कारण यह साहित्य दीर्घ काल तक ऐसे लोगों के संरक्षण में रहा जो रूढ़िवादी विद्वत्ता के क्षेत्र से बाहर थे। यह तथ्य इसके आरंभिक साहित्य की लोकप्रिय एवं अपरिष्कृत शैली में प्रतिबिंबित होता है।

पारंपरिक रूप से तंत्र संवाद के रूप में मिलते हैं जिसमें स्वयं शिव गुरु हैं।[१] उनके पाँच मुखों के अनुरूप तंत्र की भी पाँच धाराएं हैं—ऊर्ध्व, पूर्वी, दक्षिणी, उत्तरी और पश्चिमी। ज्ञान सर्वप्रथम परम शिव से नाद के रूप में उत्पन्न हुआ। तब ज्ञान ने तंत्र का रूप धारण कर लिया क्योंकि तंत्र की विभिन्न धाराओं का प्रयोजन मानव के विभिन्न कार्यकलापों — सांसारिक एवं आध्यात्मिक — में सहायक होना था। कामिक आगम के अनुसार सदाशिव के मुखों से ही तंत्र की धाराएं उत्पन्न हुईं। प्रत्येक मुख से पाँच धाराओं का उद्भव हुआ। इस प्रकार कुल मिलाकर तंत्र की पच्चीस धाराएं हुईं। इन पांच प्रकार की धाराओं में पहली है लौकिक, दूसरी वैदिक, तीसरी आध्यात्मिक, चौथी अतिमार्ग, और पांचवी में मंत्र हैं। अंतिम प्रकार की पाँच धाराओं को सिद्धांतागम कहा गया जो ऊपर वाले मुख से निःसृत हैं और मोक्ष की ओर ले जाने वाली हैं, पूर्वी मुख से निःसृत गरुड़ तंत्र विष परिहार का उपाय बताता है, उत्तरी मुख से निकलने वाला तंत्र वशीकरण विद्या सिखाता है, पश्चिमी मुख से निकलने वाला भूततंत्र भूतबाधा से मुक्ति का उपाय बताता है, और दक्षिण मुख से निकलने वाला भैरव तंत्र शत्रुओं के विनाश का उपाय सिखाता है। शिवागमों एवं रूद्रागमों के बीच भी भेद किया जाता है। शिवागम दस बताए गए हैं जिनमें कामिक, अजित और सुप्रभेद सम्मिलित हैं। अठारह रूद्रागमों में प्रमुख हैं पारमेश्वर, निःश्वास, स्वयंभूव और किरण। शिवागमों को द्वैत का और रूद्रागमों को भेदाभेद का प्रतिपादक कहा गया है।

इन अट्ठाईस आगमों के अतिरिक्त अनेक स्थानों पर चौंसठ अन्य आगमों का भी उल्लेख मिलता है, जैसे कि **श्रीकंठीसंहिता**, **वामकेश्वर तंत्र**, **सौंदर्यलहरी**, **सेतुबंध** इत्यादि में। **श्रीकंठीसंहिता** में इन्हें भैरवागम कहा गया है जो अद्वैत का सिद्धांत

प्रतिपादित करते हैं। महासिद्धिसार तंत्र संसार को तीन क्षेत्रों में विभाजित करता है और प्रत्येक के लिए चौसठ तंत्रों का उल्लेख करता है सम्मोहन तंत्र में विभिन्न क्षेत्रों के तंत्रों का उल्लेख है जैसे कि चीन, द्राविड़, केरल, काश्मीर एवं गौड़। इसमें इन्हें शैव, वैष्णव, गाणपत्य और शौर के रूप में भी विभाजित किया गया है। तांत्रिक साहित्य को विभिन्न शाक्त संप्रदायों के अनुसार भी श्रेणीबद्ध किया गया हैं। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तीन शाक्त संप्रदाय हैं—काली, तारा और त्रिपुरसंदुरी। **महाकाल तंत्र** एवं **कर्पूरस्तव** काली संप्रदाय के प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। राघवभट्ट की **काली तत्त्व** इनकी प्रसिद्ध व्याख्या है। तारा को बौद्ध अपनी प्रमुख तांत्रिक देवी मानते थे और इसके अनेक रूप एवं संप्रदाय हैं। शाक्त तंत्रों की मुख्य परंपरा त्रिपुरसुंदरी अथवा श्री विद्या में मिलती है। इसकी अनेक शाखाओं में अधिकांश अब लुप्त हो चुकी हैं। बचे हुए संप्रदायों में एक की संस्थापक अगस्त्य की पत्नी लोपमुद्रा को माना जाता है। इस संप्रदाय के प्रसिद्ध ग्रंथ हैं—**तंत्रराज**, **मातृकार्णव**, **योगिनीहृदय**, **त्रिपुरार्णव**, **स्वच्छंद तंत्र**, **त्रिपुरारहस्य**, और **ब्रह्मांडपुराण** का **ललितोपाख्यान**। पुण्यानंद का **कामकलाविलास** एवं भास्कराचार्य का **वरिवस्यारहस्य** लोकप्रिय होने के साथ ही प्रामाणिक ग्रंथ भी हैं।

शाक्त तांत्रिक संप्रदायों एवं उनके साहित्य के बीच उनके द्वारा निर्देशित आचार के आधार पर भी भेद किया गया है। दक्षिण और वाम का विभाजन सुविज्ञात है और वाम पंथ के प्रति संदेह के कारण ही आम जन भावना में तांत्रिक साहित्य को उचित स्थान नहीं मिल पाया है। वामपंथी तंत्र अत्यंत रीति-नीति विरुद्ध धारणाओं का प्रतिपादन करते थे जिससे परंपरा द्वारा स्थापित सामाजिक संरचना के ही संकट में पड़ जाने का भय था। विशेष रूप से पंचमकारों की साधना की कटु आलोचना हुई है। अनेक आधुनिक व्याख्याकारों ने दर्शाया है कि तांत्रिक ग्रंथों में जानबूझ कर संधाभाषा का प्रयोग किया गया है ताकि अदीक्षित व्यक्ति इसकी दुर्बेधता से डरकर भाग खड़ा हो। इसमें भी संदेह नहीं कि अनेक स्थानों पर मकारों का प्रयोजन केवल प्रतीकात्मक है। साथ ही, प्राचीन व्याख्याकारों ने भी कतिपय शाक्त संप्रदायों द्वारा "शक्तिबंध" की पूजा का उल्लेख किया है। लक्ष्मीघर बाह्य एवं अवैदिक अनुष्ठान द्वारा चक्रों की पूजा करने के लिए कौलों, क्षपणकों, कापालिकों, दिगंबरों, इतिहासकों और वामकों की निंदा करते हैं। समयाचार एवं शुभागमों के अनुयायी ही वैदिक माने जाते थे। पाँच शुभागम थे **वसिष्ठसंहिता**, **सनकसंहिता**, **शुकसंहिता**, **सनंदनसंहिता** और **सनत्कुमारसंहिता**। दूसरी ओर, सौंदर्यलहरी में उल्लिखित चौंसठ तंत्र वामाचारों के अनुयायी थे और उन्हें अवैदिक माना जाता था। इस संदर्भ में यह स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार के आचारों का अनेक बौद्ध तंत्रों में उल्लेख मिलता है।

यद्यपि लक्ष्मीघर की भाँति अप्पय दीक्षित एवं भट्टोज दीक्षित ने भी कौल परंपरा

की भर्त्सना की है, सुविख्यात भास्कर राय ने इसका समर्थन भी किया है। उनका कहना है कि कुलाचारों की आध्यात्मिक शक्तियों की केवल इसीलिए भर्त्सना नहीं करनी चाहिए कि इनका प्रयोग दूषित हो गया है। वस्तुतः **कुलार्णव** में तो कहा गया है, 'कौलात् परतरं नहि।' कदाचित कौलों की भर्त्सना अन्य विकल्पों की प्रशंसा के संदर्भ में ही की गई है। सत्य तो यह है कि कौलों की पूजा की पद्धति अत्यंत ऊँचे स्तर की है। कुलाचारी की निंदा अयोग्य व्यक्तियों को इनके पालन से विरत करने के लिए की गई है **'कुल-मार्ग-रतो देवि न मया निन्दितः क्वचित्। आचारहिताः येतु निन्दितास् ते न चापरे॥'** सर्वादृत अभिनवगुप्त कौल परंपरा में भी दीक्षित थे।

तंत्रविद्या सिद्धांतों एवं साधनाओं में एक विशिष्ट सामान्य गुण है जो सर्वत्र मिलता है, यद्यपि दार्शनिक, प्रतीकात्मक, एवं सामाजिक-नैतिक पृष्ठभूमि में पर्याप्त अंतर हो सकता है। निकटपूर्व के प्राचीन धर्मों, प्राचीन यूनान के रहस्यात्मक संप्रदायों, रोमन कैथलिक मसीही धर्म, ताओ धर्म सूफ़ी धर्म, इत्यादि सभी में किसी सीमा तक तांत्रिक सिद्धांत देखे जा सकते हैं। मंदिरों और मूर्तियों का प्रयोग, दीक्षा और संस्कार, अनुष्ठानों के प्रतीक, टोने, प्रार्थनाएं एवं मंत्र, शब्द, जगज्ननी, पवित्र कुमारी की संकल्पनाएं, माला और कीर्तन, जप और ध्यान, प्रेम इत्यादि का रहस्यपूर्ण चिंतन इत्यादि विभिन्न संप्रदायों एवं परिवेशों में बिखरे पड़े हैं। संसार के सभी प्राचीन धर्मों को मूलतः तांत्रिक कहा जा सकता है। यद्यपि बढ़ते हुए दार्शनिक एवं प्रतीकात्मक परिष्कार ने धर्म को 'उच्चतर' अवस्थाओं में पहुँचा दिया है, जिनके लक्षण हैं अधिक अमूर्तीकरण एवं अंतर्मुखता, इसकी मूल तांत्रिक अभिव्यत्ति आज भी बनी हुई है।

धर्म तब उत्पन्न होता है जब एक ओर तो मानव दुर्बलता एवं नश्वरता, और दूसरी ओर एक सर्वव्याप्त किंतु अदृश्य, सर्जक शक्ति का बोध एक साथ होता है। केवल सर्वव्याप्त एवं हेतुक सम्बन्धों का बोध वैज्ञानिक नियमों का निर्माण कराता है, मानव इच्छा से संबद्ध। सजातीय शक्ति का बोध जो मानव हृदय से रहस्यात्मक ढंग से जुड़ी हो, प्रकृति एवं मानव जीवन के सभी क्षेत्रों में सर्वव्याप्त हो, साथ ही अलौकिक अतींद्रिय हो, ऐसा बोध धार्मिक अन्वेषण की ओर प्रवृत्त करता है। यह खोज आत्मनियमन एवं आत्म-रूपांतरण के लिए है, जो उस शक्ति अथवा देवता के साथ सायुज्य एवं उसके प्रति समर्पण की प्रक्रिया के माध्यम से होता है। कविराज का यह कहना अत्यंत सटीक है कि साधना मात्र किसी न किसी रूप में शक्ति की ही साधना है। यह शक्ति साधना ही तंत्र का मूल सिद्धांत है। इसे अधिक अच्छी तरह समझने के लिए इसे अद्वैत या बौद्ध धर्म के आधुनिक बौद्धिक अथवा तर्कबुद्धिपरक रूपों या मसीही मत के कतिपय समसामयिक मानववादी और अस्तित्ववादी संस्करणों जैसे शुद्ध दार्शनिक धर्मों के परिप्रेक्ष्य में देखना होगा। धर्म के ये रूप मानव होने की विडंबना को चित्रित

तो करते हैं किंतु उससे उबरने के उपायरूप में विभिन्न प्रकार की 'दार्शनिक सांत्वनाएं' ही दे पाते हैं। वे मानव स्थिति को बदलने का कोई, निजी या समवेत, व्यावहारिक उपाय नहीं सुझाते, उनमें साधना के तत्त्व का अभाव है।

साधना और शक्ति की संकल्पनाओं में प्राकृतिक एवं अतिप्राकृतिक, मानवीय एवं दिव्य के बीच सम्बन्ध निहित है। इसमें नैतिक, रहस्यात्मक या आनुष्ठानिक स्तरों पर, एक मार्ग अथवा कार्यप्रणाली एवं ऐसे सिद्धांतों का आधिभौतिक प्रकाशन अथवा आविर्भाव निहित है, जो स्वाभाविक बोध के परे हैं किंतु जो इस संसार में और इसके परे भी मानव कल्याण के लिए हैं। स्वाभाविक है कि ऐसा दिव्य ज्ञान किसी पावन परंपरा (आगम शास्त्र) को जन्म दे। सामान्य जनों एवं भगवत्कृपा के बीच मध्यस्थ होने वाले भी विशेष और चुने हुए व्यक्ति होते हैं जो पैगंबरों, मनीषियों या आध्यात्मिक गुरूओं की श्रेणी में आते हैं। दुष्टभावरत व्यक्ति को दिव्य मार्ग में प्रविष्ट कराने के लिए एक विशिष्ट प्रक्रिया आवश्यक होती है जिसे सामान्यतः दीक्षा कहा जाता है। अतः शक्तिसाधना, आगम, गुरु, और दीक्षा तांत्रिक पद्धति के अनिवार्य अंग हैं।

सामान्य रूप में तो इन सबको वेदों में भी देखा जा सकता है। यही कारण है कि निगम और आगम में पूर्णभेद नहीं है। इनमें भेद का आधार है परवर्ती व्याख्याएं। वेदों को अपौरुषेय अनंत शब्द की निर्वैयक्तिक अभिव्यक्ति माना गया है जबकि आगम पौरुषेय हैं — वे सदाशिव के मुख से निसृत हैं। वस्तुतः दोनों ही आधिभौतिक दिव्य ज्ञान हैं। दोनों में ही दिव्य ज्ञान का स्वरूप विशद है जिसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही सम्मिलित हैं।

साधना अथवा आध्यात्मिक आचार के सम्बन्ध में महान् आचार्य अभिनवगुप्त ने विभिन्न पद्धतियां एवं स्तर बताएं हैं। इनमें सर्वश्रेष्ठ है अनुपाय अर्थात् पद्धति का अभाव। यह ईश्वर का अचिंत्य एवं स्वतः स्फूर्त ज्ञान होता है जो सहज और ज़ेन का स्मरण कराता है। इसके पश्चात् आता है शांभवोपाय। इसमें और अनुपाय में केवल अंश का ही भेद है क्योंकि इसमें भी प्रत्यक्ष सहजबोधात्मक ज्ञान की बात कही गई है और इसे इच्छात्मक कहा जाता है। शाक्तोपाय की तुलना ज्ञान मार्ग एवं भेद मार्ग से की जा सकती है। अंतिम, आणवोपाय क्रिया का मार्ग है जिसमें बाह्य भौतिक वस्तुएं भी प्रासंगिक हो जाती हैं। ये चारों मार्ग भगवत्कृपा, पात्रता, एवं प्रयास के विभिन्न अंशों को दर्शाते हैं। क्रिया के सूत्रीकरण एवं सिद्धांतीकरण में ही तंत्र की विशेषताओं को सुगमता से देखा जा सकता है। इसकी चर्चा हम आगे चलकर करेंगे। अभी तांत्रिक आचार की कतिपय मूल सैद्धांतिक पूर्वमान्याताओं की ओर दृष्टि डालना समीचीन रहेगा।

शक्ति की संकल्पना तंत्र का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। शक्ति की संकल्पना चेतना के स्वातंत्र्य के रूप में की गई है। अद्वैतवादी भी ब्रह्म की संकल्पना चेतना के रूप में करते हैं किंतु वे चेतना को समस्त लक्षणों एवं शक्तियों से रहित मानते हैं—शुद्ध चेतना जो संसार से किसी भी रूप में जुड़ने में असमर्थ है। शाक्त तांत्रिक धारणा इस अर्थ में ब्रह्मवाद से भिन्न है कि वह चेतना को आत्मनिश्चय की अंतर्भूत शक्ति से संपन्न मानती है जो इच्छा के रूप में प्रकट होती है। इसका मूल सूत्र है **'चितिः स्वतंत्रा विश्वसिद्धिहेतुः'** अर्थात स्वायत्त चेतना संसार की सृष्टि का कारण है।[२]

कविराज के अनुसार, 'संवित् कहलाने वाली परम सत्ता का स्वरूप शुद्ध बुद्धि का होता है जो स्वयंप्रभा है और देश, काल एवं हेतुकता की सीमाओं से स्वतंत्र है। वह प्रकाश है जो क्रिया के असीम स्वातंत्र्य अथवा विमर्श से युक्त है। यह स्वतंत्रता ही इसकी शक्ति है जो वस्तुतः उसके तद्रूप है और उसमें रहते हुए भी अपने आपको उसके अविच्छेद्य सत्य के रूप में अभिव्यक्त करती है। संवित् का सार है विकल्पों से मुक्त चेतना जो द्रव्य से मूलतः भिन्न है। शक्ति को दोहरी अवस्था में स्थित कहा जा सकता है. . . । यह सदैव चेतन रहती है, एक ओर तो इसकी चेतनता तिरोधान में व्यक्त होती है जिसमें संसार का संहार और सत्ता में उसका लीन हो कर, तद्रूप हो जाना निहित है। संवित् एक उजले दर्पण की भाँति है जिसके भीतर विश्व किसी पारदर्शी माध्यम से झांकती छवि की भाँति चमकता है. . .। इसकी अंतर्भूत गतिशीलता के कारण एक ही अनेक हो जाता है। गति आरंभ हो जाती है और इसके प्रभाव से आदि अन्विति के भीतर बहुलता जन्म लेने लगती है. . . । अनेक भी एक की ही भाँति सत्य है क्योंकि दोनों एक ही हैं।[३]

शैवागमों के छत्तीस सिद्धांत शाक्त आगमों में भी मिलते हैं। पहले ग्यारह सांख्य की प्रकृति से परे संसार की रचना करते हैं, शेष पच्चीस इसमें सम्मिलित हैं। शुद्ध चेतना अपने स्वातंत्र्य के माध्यम से सृष्टि का उद्गम होती है। इसके आनंद की पूर्णता से इच्छा का उदय होता है जिससे संसार प्रकट होता है जो आरंभ में चेतना से भिन्न नहीं होता। शाक्तदर्शन के अनुसार सृष्टि के उदय की तीन अवस्थाएं हैं—बीजावस्था (चिदुन्मेषक्रम), मिश्रावस्था, स्थूलवस्था। प्रथम पांच शुद्ध तत्त्व इसी अवस्था — बीजावस्था, चिदुन्मेषक्रम – के हैं, अर्थात शिव शक्ति, सदाशिव, शुद्ध विद्या एवं ईश्वर। समस्त विशेषों को अपने भीतर समेटे रखने वाला सामान्य शिवत्व है, किंतु परशिव में सामान्य और विशेष दोनों ही होते हैं। शुद्ध चेतना के भीतर इच्छा की स्वतंत्र लीला के कारण असंख्य अंश उत्पन्न होते हैं, साथ ही विषयी-विषय का भेद भी उत्पन्न होता है। यद्यपि चेतना अपने आपको शिवतत्त्व में अनंत अंशों के रूप में सीमित कर लेती है, फिर भी वह निर्विकल्प रहती है और अभी द्रव्य उससे भिन्न प्रतीत नहीं होता।

शिव का परिछिन्न चित् (अहं) के रूप में प्रकट होना ही शक्ति है। यह अहं-भासन का लक्षण चित् के स्वरूप में निहित होता है जिससे शिव और शक्ति में कोई भेद नहीं रह जाता, तथापि समस्त भेदात्मक गुणों से स्वतंत्र होने के कारण चित् शिव और अपने आत्म चेतनात्मक गुण के कारण शक्ति कहलाता है।

सदाशिव आत्मभासन की अवस्था अर्थात महाशून्य में अहं तथा न-अहं का सम्मिलन होता है (अहमिदं विमर्श) किंतु अहं की प्रधानता रहती है। विषय की प्रधानता होने पर चेतना का रूप 'इदम् अहम्' हो जाता है और इस अवस्था को ईश्वर कहते हैं। इसमें इदम् की प्रधानता होती है (इदमहं विमर्श) चेतना के प्रमाता तथा प्रमेय तत्त्वों की एककारिता की अवस्था शुद्ध विद्या की अवस्था होती है।

सृष्टि के क्रम की दूसरी अवस्था (मिश्रावस्था) में भेद अथवा द्रव्यत्व का और अधिक विकास लक्षित होता है जिसमें द्रव्य और आत्मा की सूक्ष्म उत्पाद्य वस्तुएं प्रकट होने लगती हैं। यह पाँच मिश्र तत्त्वों माया, कला, विद्या, राग, काल और नियति के प्रकटीकरण की अवस्था है। इस अवस्था में माया चैन्तय के ऊपर विभेद बुद्धि द्वारा आवरण करती है। काल, विद्या, राग, कला और नियति ये पांच कंचुक अर्थात् परिच्छेदक उपाधियां परम् चैतन्य की सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता, आत्मसंतोष, नित्यता तथा स्वातंत्र्य पर आवरण हैं। कला से अल्पकर्तृत्व, विद्या से भेद बुद्धि, राग से अपूर्णता, काल से अनित्यता तथा नियति से अणुत्व ये पाँच कंचुकों द्वारा उत्पन्न हीनताएं हैं। नियति, जैसा इसके नाम से विदित है, स्वतंत्रता का अपहरण करती है। पाँच कंचुकों से परवश शिव को पुरुष अथवा जीव की संज्ञा दी गई है।

तीसरी अथवा स्थूलावस्था में सांख्य दर्शनानुसार प्रकृति की विसृष्टि अर्थात् चौबीस तत्त्वों का विस्तार होता है जिसमें द्रव्य का अत्यधिक प्राधान्य होताहै। स्वयं प्रकृति को सामूहिक कर्म-वासना के रूप में निरूपति किया जा सकता है: विभिन्न एवं अनादि कर्मों सहित समस्त व्यक्तियों के स्वभाव एवं प्रवृत्तियां।' 'इसे उचित रूप से जीवों की कर्म प्रकृतियों का शरीर कहा जा सकता है, जिसे चित्शक्ति में ही निहित माना जाए।' कर्म तीन प्रकार के होते हैं — सुख प्रदान करने वाले, दुख प्रदान करने वाले एवं उदासीनता प्रदान करने वाले, और प्रकृति के भी तीन पक्ष होते हैं। समय पाकर जब प्रवृत्तियां प्रौढ़ हो जाती हैं तो वे चेतनात्मा की ज्ञान शक्ति को बाहर की ओर संचालित करती है और बाह्य संसार के साथ संपर्क करने के लिए प्रेरित करती हैं, जोकि प्रकृति का वस्तुनिष्ठ परिणाम है।' यह गहन निद्रा के पश्चात जाग उठने जैसा है यद्यपि ऊपर से देखने पर यह किसी स्वप्न की भाँति प्रतीत होता है। सत्वरजतमोगुणात्मिका प्रकृति को चित्त कहते हैं। कर्मयुक्त भौतिक वस्तुओं के अभिमुख एवं भोग की ओर ले जाने वाली संज्ञानात्मक शक्ति चित्त कहलाती है। जब स्वप्न रहित निद्रा की अवस्था

में चित्त अव्यक्त रहता है तो वह प्रकृति में समा जाता है, जब व्यक्त होता है तो वह विशिष्ट रूप से पुरुष की शक्ति होता है। इसके दो पक्ष हैं, प्रकाश रूप में जड़ और विमर्श रूप में चैतन्य जिसमें निर्णय और शब्दोल्लेख होते हैं।

भारतीय दर्शन की सभी प्रणालियां संसार की उत्पत्ति में अविद्या की भूमिका को स्वीकार करती हैं। 'शैव-शाक्त आगमों में इसे मल कहा गया है जिसकी व्याख्या अशुद्धि या छादक के रूप में की जा सकती है। इसकी तीन श्रेणियां हैं आणव, मायिय एवं कार्म। इनमें से प्रथम अनंत और एक चेतना को विशिष्ट विषयी में बदल देता है, दूसरा एक विशिष्टीकृत चेतना की शक्तियों को सीमित कर देता है और इसे पंच कंचुकों में आबद्ध कर देता है, तीसरा इस पर कर्म का भार डाल देता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है तंत्रों का दार्शनिक दृष्टिकोण त्रिविध है — द्वैत, अद्वैत, और द्वैताद्वैत। द्वैतवादी आगमों में द्रव्य को अलग सत्ता माना गया है उसका सर्वोच्च रूप है बिन्दु या महामाया जिसकी कोख से सृष्टि मात्र उत्पन्न होती है किन्तु जो पूर्णतः ईश्वर की इच्छा के अधीन है। आत्मा और द्रव्य के इस द्वैध के परिणाम-स्वरूप आत्माओं के भी पृथक्करण का सिद्धान्त मिलता है। ताथापि सबसे विशद तांत्रिक दर्शन अद्वैतवादी है जिसकी सर्वोत्तम व्याख्या अभिनवगुप्त की रचनाओं एवं त्रिपुरा रहस्य में मिलती है। इस धारणा के अनुसार सृष्टि की प्रक्रिया मूलतः प्रकटीकरण की प्रक्रिया है। ईश्वर की पराशक्ति से चित्शक्ति का उदय होता है, चित्शक्ति से आनंदशक्ति समुदित होती है, आनंदशक्ति से इच्छाशक्ति प्रकट होती है, इच्छा शक्ति से ज्ञानशक्ति का आविर्भाव होता है और ज्ञानशक्ति से क्रियाशक्ति का उदय होता है। चित्शक्ति से नाद का और आनंदशक्ति से बिन्दु का उदय होता है।'

सच्चिदानंदविभवात् सकलात् परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिरततो नादो नादात् बिन्दुसमुद्भवः॥ [४]

ब्रह्मांडीय रात्रि के पश्चात् परमेश्वर से शक्ति का उसी प्रकार उदय होता है जिस प्रकार कि निद्रा की अचेतनता के पश्चात् जागे हुए मनुष्य में स्मृति जागृत होती है। खोए हुए स्वप्न को पुनः देखने की इच्छा, जो शून्य की अनुभूति से संबद्ध है, तो माया है। 'शून्य के स्वप्न के साथ एक अस्पष्ट ध्वनि रहती है जिसे परनाद कहते हैं जिससे समस्त अंतरिक्ष पूरित होता है। नाद प्रकाश-स्वरूप होता है। तंत्र में माना गया है कि ध्वनि और प्रकाश सहवर्ती होते हैं और उनमें वही संबंद्ध होता है जो एक ही परिघटना के दो चरणों के बीच होता है।' विमर्श शक्ति (ध्वनि-प्रकाश) जब सृष्टि की इच्छा से घनीभूत होती है तो बिन्दु रूप को प्राप्त हो जाती है। इस अवस्था में क्रियाशक्ति स्वयं को स्पष्ट रूप से प्रकट करती है। बिन्दु तीन भागों — अपरबिन्दु, बीज और नाद

(अपर) में विभक्त हो जाता है, और उसी से विभिन्न तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। अपरबिन्दु में शिव तत्त्व प्रधान रहता है जबकि बीज में शक्ति प्रधान होती है। निरन्तर नाद में दोनों तत्त्व समान रहते हैं। काल की शक्ति से बिन्दु में असंतुलन एवं विभाजन उत्पन्न होता है। अतः काल परम पुरुष का शाश्वत पक्ष है जिससे परम प्रकृति का अंतरंग ज्ञान उत्पन्न होता है। प्रकृति आत्म ज्ञानसंपन्न एवं स्वयंप्रभा है।

तांत्रिक साहित्य में नाद, बिन्दु और कला शब्दों का प्रयोग विविध प्रकार से हुआ है जो बड़ा भ्रामक है इस संदर्भ में कविराज की व्याख्या विशेष महत्त्वपूर्ण है — 'नाद तीन प्रकार के होते हैं : परनाद, जो परबिन्दु का पूर्ववर्ती है, महानाद जिसे शब्दब्रह्म कहते हैं, जो परबिन्दु के विदारण के पश्चात् होता है; और नाद जो बिन्दु और बीज के संयोग के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है। इसी प्रकार, बिन्दु भी दो प्रकार के होते हैं : पर-बिन्दु जो पर-नाद को केंद्रित करने से उत्पन्न होता है और रचनात्मक शक्तियों के प्रत्यक्ष उद्गम शब्द ब्रह्म का स्रोत होता है, और अपर-बिन्दु जो शिवतत्त्व की प्रधानता वाला पर-बिन्दु की ही है।' 'कला को कभी तो परम शक्ति के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है और कभी बीज या वर्णों के अर्थ में जो निम्नतर नाद के मूल सिद्धान्त हैं। पर-नाद ब्रह्म की महाकारण अवस्था है, और उसकी कारण अवस्था है शब्दब्रह्म अथवा महानाद। यह कुल-कुंडलिनि भी है जो 'तीन सिद्धान्तों (तत्त्वों) के त्रिभुज के रूप में होती है, अर्थात् बिन्दु, बीज और नाद। स्वयं बीज वर्णों या अक्षर ध्वनियों से निर्मित होता है, जिनका प्रतिनिधित्व अ-क-थ त्रिभुज करता है, जिसकी प्रत्येक भुजा में सोलह वर्ण होते हैं, जो क्रमशः अ, क और थ से आरंभ होते हैं। ये विभिन्न चक्रों में स्थित होते हैं और सर्वक्रम किए जाने पर नाद में मिलकर सुषुम्ना में चले जाते हैं।

तांत्रिक विद्या का एक अन्य प्रसिद्ध त्रिभुज है काम-कला। काम अर्थात् रवि प्रकाश और विमर्श का संगम, जिससे दो श्वेत एवं लाल बिन्दु उत्पन्न होते हैं, जिन्हें सोम और अग्नि भी कहते हैं। सूर्य, अग्नि और चंद्रमा के इस त्रिभुज से हार्दकला, सुख का सार, प्रवाहित होता है। एक सत् है, दो आत्मचेतन सत् है अर्थात् चित् (चित्कला) है, और दोनों के बीच से प्रवाहित होने वाली हार्दकला आनंद के रूप में अनुभूत आत्मचेतना का परिणाम है।[५]

कुंडलिनि की संकल्पना तंत्रों में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। अनेक आधुनिक लेखकों ने इसकी विभिन्न व्याख्याएं देने का प्रयास किया है, जिससे इस सम्बन्ध में भ्रम और भी बढ़ गया है। कविराज का कहना है कि तांत्रिक परंपरा में कुंडलिनि के आठ रूपों (अष्टधा कुंडलिनि) का उल्लेख मिलता है। इनमें सर्वोच्च शक्ति कुंडलिनि है जो परासंवित की समकक्ष है। इसे कुंडलिनि की संज्ञा यह दर्शाने के लिए दी गई है कि यह

परम-चेतना की वह अवस्था है जिसमें वह अपनी अनंत सम्भावनाओं से युक्त होकर मानो कुंडली रूप में स्थित रहती है। सृष्टि की प्रक्रिया में वह प्राण कुंडलिनि में रूपांतरित हो जाती है। 'यह रूपांतरण एक क्रमिक प्रक्रिया द्वारा होता है जिसमें शक्ति कुंडलिनि मातृकाओं एवं वर्णों के विकास द्वारा स्वयं को अधिकाधिक कसती जाती है और प्राण एवं शून्य के स्तर पर पहुँच जाती है। यह स्वयं सिद्ध है कि तत्त्वों के उदय के रूप में सृष्टि की रचना से पूर्व संवित् प्राण में रूपांतरित हो जाता है।' अतः सार रूप में कुंडलिनि पराबिन्दु अथवा महामाया ही है। नाद के रूप में यह प्रत्येक व्यक्ति में रहती है। **'कुंडलिनि-शब्द-वाच्यस्तु . . . नादात्मना स्वकार्येण प्रतिपुरुषम् भेदेनावस्थितः।'**[६] नाद वह आंतरिक शक्ति है जो विवेकात्मक ज्ञान उत्पन्न करती है और ध्वनि को वाचक शक्ति प्रदान करती है। अतः कुंडलिनि व्यक्ति के चेतन जीवन के कार्यकलापों के मूल में ही स्थित है। आध्यात्मिक शक्ति के रूप में इसकी 'जागृति' एवं सुषुम्ना के माध्यम से इसके ऊर्ध्वगमन विकल्पों और भोगों में स्थित मातृकाएं एवं कर्मवासनाएं बाधक होती हैं। इसको जागृत करने के उपाय वही हैं जिनका पहले उल्लेख हो चुका है। सुषुम्ना के भीतर वर्णों का नाद में ध्वनित एवं लीन होना कुंडलिनि के जागृत होने का सूचक है।

सुषुम्ना का सच्चा स्वरूप है शून्य पदवी। आलंकारिक रूप से इसे एक कुल्या के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, यह दर्शाने के लिए कि शून्य तक पहुँचने के लिए उत्तरोत्तर बढ़ते हुए शून्यत्व के क्रम से अनेक अवस्थाओं को पार करना पड़ता है। इस प्रक्रिया में एकाग्रता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, चेतना का अपसरण होता जाता है जिसका लक्ष्य ऐसी अवस्था प्राप्त करना है जहाँ पूर्ण एकाग्र चेतना विषयाश्रित नहीं रह जाती और संतुलित रहकर महाशून्य की साक्षी बन जाती है। किसी भी उपाय द्वारा इससे आगे जाना सम्भव नहीं है। महाशून्य का भेदन चित्कला के अनुग्रहपूर्ण आविर्भाव से ही सम्भव है।

तांत्रिक साधना का मुख्य साधन निःस्संदेह मंत्र-जप है यद्यपि न्यास, योग, यंत्र, मंडल इत्यादि भी तांत्रिक पूजा के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण हैं। मंत्र को स्वयं चित्त के ही तद्रूप माना गया है। चित्त सृष्टि की प्रक्रिया में चिति के प्रत्यावर्तन की एक अवस्था मात्र है। जब चेतना अपना विषयी स्वरूप खोकर विषय रूप धारणा कर लेती है तो चित्त कहलाती है। जैसा कि पहले कहा गया है विचार और शब्द अवियोज्य होते हैं। अपनी निम्नतम अवस्था में शब्द उच्चारणीय एवं श्रवणीय ध्वनि होता है जिसमें वाचकता की शक्ति होती है और जो विचार या विकल्प के रूप में चेतना के माध्यम का कार्य करता है। यह वैखरी वाणी है जो चेतना को दैनंदिन संसार के कार्यकलापों में बंदी बनाती है। मंत्र-जप चेतना को मथने की प्रक्रिया है। 'आत्मा को निचली और प्रणव को ऊपरी अरणि बनाकर मंथन की प्रक्रिया के माध्यम से प्रकट होने वाली अग्नि की

भाँति ईश्वर का दर्शन होता है।' मंत्र बीज विचार है जो एकाग्र अभ्यास द्वारा नाद के रूप में प्रकट होता है। वैखरी की अवस्था से ऊपर उठाकर वाक् मध्यमा के स्तर पर पहुँचता है जिसमें विषयी विषय भेद तो बने रहते हैं किन्तु चित्त का बाह्यात्मक पक्ष समाप्त हो जाता है। अर्थ स्पष्ट एवं तर्कात्मक क्रम में व्यवस्थित होकर बोधगम्य रूप धारण कर लेते हैं। इसके भी ऊपर पश्यंती वाक् की अवस्था होती है जो सहजबोधात्मक होती है, जिसमें वस्तुएँ एकाएक ही, मानो विद्युत की कौंध की भाँति स्पष्ट हो उठती हैं। इसके परे पर वाक् होती है जो स्वयं विमर्श की ही आत्मपुष्टि है। सुषुम्ना में निम्नतर नाद से आरंभ होकर तांत्रिक साधना मंत्रों की सहायता से परम नाद एवं चेतना तक जा पहुँचती है।

तांत्रिक ब्रह्मांडविज्ञान में मानव स्वरूप एवं नियति की विशिष्ट दृष्टि मिलती है। मानव के सत्व को दैवी माना गया है, क्योंकि जीव का स्वरूप शिव की भाँति ही है। यह अद्वैत की भेदरहित, जड़ चेतना नहीं है अपितु अनंत शक्ति संपन्न चेतना है। मानव अज्ञानी, शक्तिहीन, वासनाओं के अधीन, नियति एवं काल से बंधा हुए केवल इस कारण प्रतीत होता है कि सृष्टि की प्रक्रिया में ईश्वर स्वेच्छा अपने ऊपर इन सीमाओं को आरोपित कर लेता है। 'इस प्रकार आध्यात्मिक अणु के रूप में आत्मा सर्वप्रथम तब प्रकट होता है जब दिव्य इच्छा पर कुंडलिनि को प्राण-कुंडलिनि में रूपांतरित करके स्वयं ही अपने लिए आवरण का निर्माण करके उसमें अपनी स्वतंत्रता खो देती है। जब चित् चित्त के रूप में प्रकट होता है तो आणिवक अवस्था में आत्मा के समस्त दैवी गुण धूमिल पड़ जाते हैं। यह आणव मल है जो आत्मा को पशु अवस्था प्रदान करता है और उसे माया के आधीन बनाता है। आगम दर्शन में मलोपेत जीव को पशु की संज्ञा दी गई है। तत्पश्चात् वासनाएं कर्ममल को उत्पन्न करती हैं। मायिय मल की अवस्था में तीन शरीर होते हैं, (i) कलाशरीर, (ii) पुर्यष्टक अर्थात् तत्त्वशरीर, और (iii) स्थूल अथवा भुवनज शरीर। समस्त भौतिक वस्तुएं मायिय मल के अंतर्गत आती हैं जिसका कार्य है 'विषय को विषयी (स्वरूप) से भिन्न दर्शाना।' कहा जा सकता है कि यह तो बौद्धों के ज्ञेयावारणा की भाँति है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कर्ममल क्लेशावारणा के समान है। आणवमल एक सीमित चेतना को उत्पन्न करता है जिसमें भेद अथवा नानात्व का ज्ञान रहता है। माया में उससे उत्पन्न इकतीस तत्त्व होते हैं, और कर्ममल अदृष्ट है जिसमें पाप और पुण्य होते हैं।

मानव का लक्ष्य है अपनी सांसारिक स्थिति से छुटकारा पाकर अपने मूल स्वरूप में लौट जाना। मुक्ति मिलती है विवेकपूर्ण ज्ञान के माध्यम से जो कर्ममल से छुटकारा दिलाता है और आत्मा को माया से ऊपर उठाता है। किन्तु आत्मा फिर भी महामाया की सीमा के भीतर अपनी आणाविक अवस्था में बना रहता है 'जिससे वह तब तक मुक्त नहीं हो सकता जब तक कि उस पर परमात्मा का परम अनुग्रह नहीं होता और

उसका वह मूल अज्ञान दूर नहीं होता जो उसके अणुत्व का कारण है और उसकी अनंत शक्तियों को सीमित करता है।' यह विज्ञानाकल अथवा कैवल्य की अवस्था है। इस अवस्था को प्राप्त करना ही अधिकांश प्राचीन दार्शनिक पद्धतियों का आध्यात्मिक आदर्श रहा है, महायान और कदाचित् वेदान्त भी इसका अपवाद हैं। आगमों में मनुष्य के इस अवस्था से भी आगे जाकर शिवत्व प्राप्त करने की बात कही गई है, जिसे शुद्धाध्वा की अवस्थाओं द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इन अवस्थाओं में आत्मा की स्थितियाँ पशु की न होकर स्वयं शिव की होती है, यद्यपि कुछ सीमाएं फिर भी शेष रहती हैं। द्वैतवादियों के अनुसार ये सीमाएं अधिकार, भोग और लय की होती हैं।' कालांतर में वे भी समाप्त हो जाती हैं। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, इस सम्बन्ध में कविराज की धारणा है कि अंततः साधना का लक्ष्य परमअनुग्रह का आविर्भाव होना चाहिए जिससे समस्त सृष्टि का रूपांतरण हो सके। वे साधना और योग में भेद करते थे और योग के भी खंड और अखंड दो भेद मानते थे।

क्योंकि शिवत्व मानव आत्मा का परम सत्व ही है अतः इसका पशुत्व अज्ञान के ही कारण है जिसे हटाने के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है। यह ज्ञान आगम विद्या के माध्यम से अप्रत्यक्ष ज्ञान के रूप में आरंभ होता है, तर्कबुद्धिपरक चिंतन द्वारा संशयों के हटने से सशक्त होता है और समाधि के माध्यम से प्रत्यक्ष ज्ञान बन जाता है। यह सहजबोधात्मक ज्ञान अविकल्पात्मक होता है अतः अज्ञान को हटाने के लिए पर्याप्त नहीं होता क्योंकि अज्ञान एक प्रकार का विकल्प होता है। ऐसा विकल्पात्मक अज्ञान केवल उसके विपरीत विकल्पात्मक ज्ञान से ही हटाया जा सकता है। ऐसा ज्ञान मिलता है प्रत्यभिज्ञा से।

ज्ञातव्य है कि उद्धारक ज्ञान की यह प्रक्रिया वेदान्त के ग्रंथों में वर्णित प्रक्रिया के समांतर है। इनमें दो मुख्य अंतर हैं। एक तो, आगमों में चिंतन या उपासना द्वारा स्वात्म को प्रसन्न करने पर बल दिया गया है ताकि ईश्वर का अनुग्रह या शक्तिपात हो सके। यद्यपि अद्वैत वेदान्त में भी उपासना के महत्त्व को समझा गया है और महान् आचार्य शंकर स्वयं अपने स्तोत्रों में शाक्त तांत्रिक उपासना का निर्देश करते हैं, फिर भी सिद्धान्ततः उपासना को गौण एवं अननिवार्य उपाय का ही स्थान दिया गया है। इसका कारण यह है कि अद्वैत ज्ञान और कर्म में स्पष्ट भेद करता है।[७] तंत्र ऐसे भेद को स्वीकार नहीं करता। इसी से उत्पन्न होता है तांत्रिक अद्वैतवाद एवं वेदान्त अद्वैतवाद का दूसरा मतभेद। स्वयं शिवत्व का प्रत्यय ही ब्रह्मत्व के प्रत्यय से भिन्न है क्योंकि शिवत्व को स्वातंत्र्य के रूप में परम ज्ञान एवं इच्छा के तद्रूप माना गया है। तांत्रिक सिद्धान्त समुचित रूप से इसकी व्याख्या करता है कि क्यों ज्ञान को पूर्णता के लिए कर्म और भक्ति की आवश्यकता पड़ती है।

६

भारतीय संस्कृति का अर्थ

'संस्कृति' की संकल्पना पश्चिम में उन्नीसवीं, शती में नृतत्त्वशास्त्रीय, दार्शनिक एवं समाजवैज्ञानिक शोध, राष्ट्रीय आन्दोलनों एवं हर्डर, हेगल और माज़िनी के रूमानी दर्शन के परिप्रेक्ष्य में उदित हुई। इसमें दो भिन्न अर्थों को एक साथ जोड़ा गया था। एक ओर तो इससे तात्पर्य था किसी राष्ट्र के समाज, जीवन, एवं चिंतन के विशिष्ट लक्षणों से। दूसरी ओर इसका तात्पर्य उन आदर्श मूल्यों एवं उनकी खोज से था जो व्यक्तित्व के विकास एवं मूल्याकंन के सार्वजनीन मानदंड बनते। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय संस्कृति की संकल्पना के भीतर भी लोक एवं अभिजन का विभाजन होने लगा था। यह समस्या भी थी कि संस्कृति को विशिष्ट एवं विभाजक अवधारणा माना जाए अथवा सार्वजनिक एवं संयोजक। यह स्वीकार करना पड़ता है कि संस्कृति की संकल्पना में ये अस्पष्टताएं आज भी बनी हुई हैं।

प्राचीन भारत में 'संस्कृति' का समान्तर शब्द था 'धर्म' जो न केवल 'विशिष्ट स्वरूप' का ही द्योतक था अपितु आदर्श गुणों, सामाजिक व्यवस्था एवं दायित्वों का भी बोध कराता था, और व्यक्ति एवं समूह, दोनों पर ही, प्रयुक्त होता था। वस्तुतः धर्म शब्द भी संस्कृति की ही भाँति व्यापक एवं द्वयर्थक था। भारत पर अंग्रेज़ों के प्रमुखत्व एवं लोगों के धर्म परिवर्तन करने तथा विदेशी शिक्षा-पद्धति के माध्यम से, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक सुधार के नाम पर, भारतीयों के विजातीयकरण के प्रयासों के प्रत्युत्तर में भारत में अनेक आंदोलन उठ खड़े हुए जिन्होंने हिन्दू धर्म की परिभाषा एवं उसके सिद्धान्तों की व्याख्या करने का प्रयास किया। विवेकानन्द जैसे चिंतकों की दृष्टि में हिन्दू धर्म की दुहाई देना वस्तुतः सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की दुहाई देना था। इसका स्वरूप उदार होने के साथ ही उत्कट राष्ट्रवादी भी था। विवेकानंद ने एक सार्वजनीन धर्म के रूप में इसका प्रचार किया। कहने का तात्पर्य यह कि उन्होंने अपने मूल्य हिन्दू परम्परा से ही प्राप्त किए थे किन्तु वे भारत या विश्व का हिन्दूकरण नहीं करना चाहते थे अपितु इन सार्वजनीन मूल्यों का प्रचार करना चाहते थे जो उन्होंने अपनी हिन्दू परपंरा में व्यक्तिगत रूप से खोजे थे। हिन्दू धर्म, राष्ट्रवाद, और वसुधैव कुटुम्बकम् की अवधारणा के बीच विवेकानन्द के चिंतन में जो यह विशिष्ट सम्बन्ध है वह श्री अरबिंदो में भी दिखाई देता है। भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में कविराज के दृष्टिकोण की

पृष्ठभूमि भी कुछ सीमा तक इन्हीं विचारों से निर्मित है। वे पंडित जवाहरलाल नेहरू की पीढ़ी के थे, उन्होंने स्वाधीनता का संघर्ष अपने जीवन काल में देखा था और विरासत में उन्हें पारंपरिक ज्ञान एवं विवेक के साथ आधुनिक ज्ञान एवं वैज्ञानिक प्रशिक्षण भी मिला था।

संस्कृति के प्रति कविराज का दृष्टिकोण मूलतः वैश्विक, मानववादी एवं आध्यात्मिक था। मानव मूलतः आध्यात्मिक प्राणी है जो अपने खोए हुए राज्य की पुनः प्राप्ति के लिए प्रत्यनशील है। मानव का स्वरूप अंततः आणविक नहीं है, न ही मानव केवल सजातीय हैं, अपितु वे मूलतः एक परम सत्ता के रूप में जुड़े हुए हैं जिसमें भेद के लिए भी स्थान है। मानव सम्बन्धी यह आध्यात्मिक धारणा उसके अंतर्भूत गौरव और स्वातंत्र्य, निजता एवं सामाजिक सामंजस्य पर बल देती है। यह व्यष्टिवाद के साथ ही सामूहिकतावाद, भौतिकतावाद एवं बल प्रयोग को अस्वीकार करती है। यह इस अर्थ में मानववादी है कि यह मानव की मानवता को सामूहिक रूप से दबाने या तपश्चर्या के बल पर उसका अतिक्रमण करने के स्थान पर मानव का रूपांतरण करना एवं उसे पूर्ण बनाना चाहती है। इस प्रकार वह न केवल इहलौकिकता अपितु पारलौकिकता को भी अस्वीकार करती है। मानव का सर्वोत्तम आदर्श है योगी होना। योगः कर्मसुकौशलम्। प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह मानवता के लिए कार्य करे और उसकी ईश्वर द्वारा निर्धारित नियति की प्राप्ति की दिशा में सहयोग करे।

हर्डर और माज़िनी की धारणा थी कि प्रत्येक राष्ट्र का अपना विशिष्ट ऐतिहासिक कार्य एवं ध्येय होता है। इसने रानाडे को प्रभावित किया था और विवेकानंद एवं अरविंदो में भी इसे देखा जा सकता है। कविराज को भी ऐसी धारणा का समर्थक कहा जा सकता है। अपनी प्राचीन परंपरा के कारण आध्यात्मिक साधना एवं आदर्शों के प्रति भारत की गहन प्रतिबद्धता रही है। उसके महान् सूपतों ने इसी प्रकार का जीवन जिया है और ऐसी विरासत छोड़ गए हैं जिस पर सहज ही गर्व किया जा सकता है। इस आध्यात्मिक परंपरा का सबसे महत्त्वपूर्ण लक्षण है इसका समृद्ध एवं विविध होना। भारत में आश्चर्यजनक रूप से विविध साधना के आधार पर असंख्य दर्शनों और आचार संहिताओं या प्रतिपादन हुआ है। एक और अनेक के सामंजस्य की झांकी यदि कहीं देखने को मिलती है तो वह भारतीय आध्यात्मिक परंपरा में ही मिलती है। अनेकता में एकता भारतीय संस्कृति का मुख्य स्वर हो गया है। इसने इसे एक निरन्तर उदारता की दृष्टि प्रदान की है जिसके कारण विभिन्न कौमों, समुदायों, धर्मों, एवं संस्कृतियों का विशद भारतीय परंपरा में समृद्ध संश्लेषण सम्भव हुआ है जिसने इसे एक महाद्वीपीय संस्कृति प्रदान की है। यह आध्यात्मिक होते हुए भी संकीर्ण अथवा कट्टर रूप से धार्मिक नहीं है। सहिष्णुता की दृष्टि ने उसे अहिंसा एवं सह-अस्तित्व

का दर्शन दिया है। धर्मनिरपेक्षता के मूल में भी यही साहिष्णुता है — विनोबा ने इसे सर्व-धर्म-सम-भाव कहा है। कविराज का दृष्टिकोण इसी गहन अर्थ में धर्मनिरपेक्ष है, जिसका तात्पर्य धर्म के प्रति उदासीनता न होकर आध्यात्मिक जीवन के सार्वभौम किन्तु नाना रूप सत्य के प्रति प्रशंसा भाव है। इस अर्थ में संस्कृति कुछ अन्य नहीं अपितु मानव की आध्यात्मिक परंपरा ही है जो विभिन्न क्षेत्रों, युगों एवं स्तरों में बंटी हुई है। अध्यात्म विद्या इसी सार्वभौम विवेक की अभिव्यक्ति है।

यह धारणा प्लेटोवादी अर्थ में भी प्रत्ययवादी है। मानवीय विषयों को शाश्वत आद्य प्रारूपों के संदर्भ में ही अच्छी तरह समझा जा सकता है क्योंकि ये ही उनमें प्रतिबिंबित होते हैं। 'जैसा ऊपर वैसा नीचे', के साथ ही सूक्ष्म एवं विराट् की समांतरता मानव संसार को आध्यात्मिक महत्त्व एवं रहस्यात्मक परिपूर्णता की व्यापक अर्थवत्ता प्रदान करती है। इससे निश्चय ही, संस्कृति सम्बन्धी भौतिकतावादी, प्रकृतिवादी एवं सामाजिक धारणाओं का खंडन होता है। केवल प्राकृतिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ ही संस्कृति का निर्धारण नहीं करतीं यद्यपि इनका अपना महत्त्व है। उसका मूल आद्य प्रारूपात्मक प्रत्ययों में होता है जो मानव के मूल स्वरूप से जुड़े होते हैं। क्योंकि यह मूल है स्वातंत्र्य, अतः संस्कृति भी अंततः स्वतंत्रता की ही अभिव्यक्ति है। स्वाभाविक एवं सामाजिक बंधन की अवस्था में संस्कृति स्वाधीनता की खोज हो जाती है। यही कारण है कि मुक्ति मुख्य पुरुषार्थ है और धर्म उसका मुख्य साधन। काम स्वाभाविक सुखवादी ध्येय है। अर्थ में इन ध्येयों को प्राप्त करने की उपयोगिताएं निहित होती हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष मानव जीवन के सामान्य ध्येय अथवा मूल्य हैं। धर्म का अनुसरण करने के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति स्वतंत्र रूप से कार्य कर सके — स्वतंत्रः कर्त्ता। चाहे किसी सद्‌गुण की प्रयुक्ति के रूप में हो या कर्तव्य वहन के रूप में हो, धर्मपालन के लिए आत्मसंयम एवं किसी सीमा तक तटस्थ भाव से कर्म करने की आवश्यकता होती है। नैतिक आदर्शों का पालन करने के लिए कतिपय वस्तुगत परिस्थितियां भी आवश्यक होती हैं — व्यक्ति को उपलब्ध साधन के रूप में और एक ऐसी राजनीतिक-विधि व्यवस्था के रूप में जो जन और संपत्ति की सुरक्षा का आश्वासन दे सके। ये आर्थिक साधन एवं राजनीतिक व्यवस्था ही अर्थ है। इससे स्पष्ट है कि मूल्यों के पारंपरिक विश्लेषण में जीवन के सामाजिक पक्ष की अवहेलना नहीं है। सुख की कामना को वैध माना गया है किन्तु वह धर्म की सीमा के भीतर ही रहे। चूंकि मानव केवल लौकिक सुखों से ही संतुष्ट नहीं हो सकता अतः उसे अपने सच्चे स्वरूप की खोज रहती है। उसका यह स्वरूप भूमा है और वही उसे सच्ची शांति प्रदान कर सकता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से मानवता की एक मौलिक आध्यात्मिक संस्कृति प्रतिपादित

की जा सकती है जिसका केंद्र भारतीय उपमहाद्वीप होता जिसे पारंपरिक रूप से कुमारीद्वीप अथवा भारतवर्ष कहा जाता था। इस मूल केंद्र से आध्यात्मिक लहरें विभिन्न युगों में अन्य देशों एवं महाद्वीपों में फैली। जिसे हिन्दू संस्कृति कहा जाता है वह इसी मूल संस्कृति का अंश है। आदिम आदिवासी संस्कृतियां, द्रविड संस्कृति, आर्य संस्कृति, बौद्ध एवं जैन संस्कृतियां, वानरों एवं राक्षसों की संस्कृतियां ये सब मूल भारतीय संस्कृति के विकास अथवा विकृति के ही विभिन्न चरण हैं।[१]

आधुनिक पुरातत्त्ववेत्ताओं ने मानव के भौतिक अवशेषों से उसके प्राचीन इतिहास की पुनर्रचना करने का प्रयास किया है। उनका यह प्रयास इस विकासवादी पूर्वमान्यता पर आधारित है कि आदिम संस्कृति वैसी ही थी जैसी कि पुरातत्ववेत्ता आज बची हुई आदिम जातियों के सम्बन्ध में बताते हैं। इस प्रकार की पुनर्रचना में इस तथ्य के साथ न्याय नहीं होता कि कलात्मक सृजन की नैतिक एवं आध्यात्मिक संस्कृति का भौतिक संस्कृति के साथ कोई सहसम्बन्ध नहीं होता।[२] भौतिक सादगी का सामाजिक, नैतिक, कलात्मक एवं आध्यात्मिक मूल्यों वाली उच्च श्रेणी की संस्कृति से पूर्ण सामंजस्य हो सकता है। परिवार और राज्य, विकसित कलात्मक गतिविधि, भाषा और धर्म जैसी अधिकांश मूल सामाजिक संस्थाएं प्रागैतिहासिक युग में भी थीं। सभ्यता और संस्कृति के विकास की तुलना नहीं की जानी चाहिए। चार युगों के सिद्धान्त में प्राचीन युगों का जो पौराणिक विवरण मिलता है, उसमें भौतिक सादगी होते हुए भी उच्च श्रेणी की संस्कृति मिलती है। अतः मानव की आध्यात्मिक संस्कृति का आरंभ प्रागैतिहासिक युग के अत्यत प्राचीन काल में देखा जा सकता है। प्राचीन पारंपरिक युग इसी काल को संदर्भित करते हैं।

इतिहास की प्रथम सभ्यताओं को देखने से ज्ञात होता है कि प्राचीन निकट पूर्व और सिंधु घाटी सभ्यता के धर्मों की तांत्रिक साधनाओं में बड़ा साम्य है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार भारत यूरोपीय देशों के धर्मों और वैदिक धर्म में स्पष्ट सम्बन्ध दिखाई देता है। निगम और आगम वेद और तंत्र भारत की आध्यात्मिक परंपरा के स्रोत हैं, जिसका विश्व में अन्यत्र आध्यात्मिकता के विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। पाइथागोरस और सुकारत, ओरफ़िफ एवं इलेसिनियन रहस्यवाद, नवप्लेटोवाद, इसेंस के तपस्वी संप्रदाय इत्यादि का भारत से संपर्क प्रतीत होता है। आरंभिक मसीही मत, बौद्ध धर्म और भागवत धर्म पूर्णतः असंबद्ध नहीं हो सकते। सूफ़ी मत में पुनः भारतीय प्रभाव दिखाई पड़ता है, और मध्य एशिया, सुदूर पूर्व एवं दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों की आध्यात्मिकता पर भारतीय प्रभाव रहा है।

स्वयं भारत में भी विभिन्न धर्मों का मेल हुआ है जिसके फलस्वरूप एव समृद्ध एवं उदार आध्यात्मिक संस्कृति का जन्म हुआ है जो विश्व आध्यात्मिकता के लघु

संस्करण की भांति है। संस्कृति के सम्बन्ध में एक आम भ्रांति यह होती है कि इसे प्रायः ऐतिहासिक समाजों, राष्ट्रों अथवा सभ्यताओं के रूप में देखा जाता है। ये तो वस्तुतः बाह्य साधन मात्र है जिनके माध्यम से संस्कृति का आंतरिक आध्यात्मिक तत्त्व अपने आपको विभिन्न प्रतीकात्मक, संकल्पनात्मक एवं संस्थात्मक रूपों में प्रकट करता है। उदाहरण के लिए, एक ही तार्किक अथवा भावात्मक विचार को विभिन्न भाषाओं में अभिव्यक्त किया जा सकता है जिससे उसमें सूक्ष्म अंतर आ जाता है, इस तथ्य को मसीही, बौद्ध अथवा मुस्लिम धर्मग्रंथों के अनुवादों में देखा जा सकता है। स्वच्छंदतावादी कल्पना अथवा उदारवादी विचारधारा का विभिन्न कलावादी आंदोलनों अथवा राजनीतिक संस्थाओं के रूप में अभिव्यक्त होना इसी परिघटना का एक अन्य उदाहरण है। अतः यह समझना कठिन नहीं है कि आध्यात्मिक मूल्यों एवं अंतर्दृष्टियों का एक मूल केन्द्र होता है जो विभिन्न सामाजिक एवं प्रतीकात्मक परिवेशों और विभिन्न देशों एवं युगों में मानव के उच्चतर एवं मूल स्वभाव के रूप में सार्वजनीन रूप से कार्य करता है। मानव जाति की सच्ची एवं भावात्मक एकता को समझने के लिए उसके स्थूल एवं रूढ़िवादी रूपों के परे जाना पड़ेगा — उन स्थूल एवं रूढ़िवादी रूपों के परे जो मानव को बांटते हैं और टकराव उत्पन्न करते हैं।

इस मूल और सार्वजीन आध्यात्मिक संस्कृति का नाम है सनातन धर्म अथवा सद्धर्म। जब इसे किसी देश या समुदाय विशेष का नाम दे दिया जाता है तो यह उस समय उस देश अथवा समुदाय विशेष में प्रचलित व्यवस्था तक सीमित होकर रह जाता है।[3]

ऊपर हमने संस्कृति के शरीर एवं आत्मा में भेद किया है। यदि किसी समुदाय अथवा सामाजिक परंपरा को शरीर मानो जाए तो उसके विशिष्ट संस्कारों को उसकी आत्मा कहा जाएगा। संस्कृति का यह आत्मबल बीज की भाँति कार्य करता है और विशिष्ट परिवेश में विशिष्ट प्रकृति का प्रभाव ग्रहण करता है। किसी क्षेत्र विशेष में इतिहास का सातत्य इसे एक विशिष्ट राष्ट्रीय अथवा महाद्वीपीय स्वरूप प्रदान कर देता है। भारतीय संस्कृति की बात करते समय हमारा तात्पर्य इसी से होता है। वस्तुतः वह मानव की आध्यात्मिक संस्कृति ही है जिसने भारतीय परिवेश के प्रभाव से यह स्वरूप धारण किया है। इसके भीतर मिलने वाली विभिन्न सांस्कृतिक धाराएं इसके विविध रूपों को उत्पन्न भी करती हैं और इसके विभिन्न अंगों का कार्य भी करती हैं, किन्तु उन सब में भारतीयता पहचानी जा सकती है क्योंकि उनमें प्रजातीय साम्य है। यह मूल साम्य अनेकता में एकता की दृष्टि में भली-भाँति देखा जा सकता है। 'इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतीय संस्कृति के रहस्य को उसी संश्लेषण के मार्ग से खोजा जा सकता है जिसका अनुसरण करके भगवान् कृष्ण ने क्षर और अक्षर पुरुष की दो

विरोधी संकल्पनाओं का सामंजस्य करके पुरुषोत्तम का सिद्धान्त प्रतिपादित किया और एक ही पुरुष में काम एवं स्थितप्रज्ञता जैसी दो परस्परविरोधी बातों का सामंजस्य करके निष्काम कर्म के महान् योग का सिद्धान्त दिया था।[४] स्मरणीय है कि तिलक से लेकर अरबिंदो एवं गाँधी तक आधुनिक भारत के मनीषियों के लिए कर्मयोग का उपदेश करने वाली **गीता** ही सर्वश्रेष्ठ शास्त्र रही है।

जोड़ने वाली यह मूल दृष्टि संपूर्ण सत्य के ज्ञान से ही उत्पन्न होती है। तभी यह आंशिक सत्य का भी आदर कर सकती है। अतः विद्याओं और कलाओं की जितनी भी महान् शाखाएं निकली हैं वे सब उस एक किन्तु अनंत और व्यापक सत्य की मूल खोज की इच्छा से ही प्रेरित हैं। यही ब्रह्म अथवा आत्मा का दर्शन है। इसी दर्शन में ज्ञान और सुख के अन्वेषण की पराकाष्ठा होती है। अतः व्याकरण में वाणी अथवा ज्ञान के परम सिद्धान्त का अन्वेषण है, जो समस्त सृष्टि का उद्गम है। छंद केवल छंदशास्त्र की ही वस्तु नहीं हैं अपितु लय का विज्ञान है जो दिव्य प्रकाश के जगत् की वस्तु है। कविता भी अंततः तत्त्व दर्शन है जिसमें रस का आविर्भाव होता है। नाट्य कलाओं का मूल नाद के सिद्धान्त में है। कर्मकांड प्रतीकीकृत ब्रह्मविद्या ही है। यहाँ तक कि कामशास्त्र को भी अंततः कामकला के रहस्य से संबद्ध अवधारित किया गया है। पारंपरिक रूप से समस्त विद्याओं एवं कलाओं को एक ही सत्य की खोज में रत दिखाया गया है भले ही उनकी यह खोज अलग अलग दृष्टियों से की जाती हो।

विभिन्न युगों में भारतीय संस्कृति के इतिहास ने अनेक उतार चढ़ाव देखे हैं। वैदिक युग का आधार देवता एवं यज्ञ की संकल्पनाएं थीं। व्यक्ति के मन के भ्रांत प्रकार्य में निहित प्रकाशवान् तत्त्व ही देवता-तत्त्व है। मन का एकाग्र मंथन करने से वह प्रकट होता है। जब मनीषी चित्कला के माध्यम से इस प्रकाश का नाम और रूप अध्यारोपित करते हैं तो देवताविशेष प्रत्यक्ष होते हैं। कविराज की मान्यता है कि अनेक देवी देवाताओं का अन्वेषण हुआ है और हो रहा है फिर भी मूल देवता तत्त्व एक ही है और वह सतत् है। यज्ञ इसी दिव्य प्रकाश के प्रति आत्मसमर्पण है। 'हविष्य वस्तुतः याजक स्वयं होता है।' वैदिक धर्म को प्रकृति की अंधपूजा अथवा सर्वात्मवाद ही नहीं समझना चाहिए। वह तो परम समर्पण के माध्यम से आध्यात्मिक प्रकाश की पूजा है।

असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतमगमय।

परवर्ती कालों में इस प्राचीन आस्था के विभिन्न पक्ष विभिन्न दिशाओं में विकसित हुए। कविराज की मान्यता है कि बौद्ध धर्म ने सांख्यवादी विश्लेषण एवं येगिक चिंतन को विकसित किया किन्तु सर्वाधिक ऋणी वह ब्राह्मण ग्रंथों की उपासनाओं का है। अनेक अर्थों में हीनयान की तुलना में महायान ही बुद्ध के अधिक निकट है क्योंकि

उसने प्रज्ञा एवं करुणा की संकल्पनाओं एवं बोधिसत्व की धारणा को विकसित किया — ये सब उस मार्ग से सम्बन्धित हैं जिसका अनुसरण स्वयं बुद्ध ने किया था। अतः हीनयान एक ऐसा मार्ग प्रतीत होता है जिसका अनुसरण वे लोग करते थे जिनमें इतना साहस नहीं था कि वे दुख के अतिक्रमण के मार्ग पर सबको साथ लेकर चल सकें। सामान्यतः बौद्ध धर्म एवं ब्राह्मण धर्म के मतभेदों पर ही अधिक बल दिया जाता है। किन्तु कविराज ने बौद्ध सिद्धान्तों एवं ब्रह्माण ग्रंथों के बीच अनेक साम्य दर्शाए हैं।

मध्य युग में तंत्रवाद के प्रत्यक्ष उत्थान और योगियों एवं सिद्धों के उदय ने बौद्ध धर्म के पतन एवं लोकप्रिय आस्तिक संप्रदायों के उत्थान की पृष्ठभूमि प्रदान की। भारतीय संस्कृति के इस चरण को सामान्यतः प्राचीन भारतीय परंपरा के पतन का चरण अथवा हिन्दुस्तानी या हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति का चरण कहा जाता है। कविराज ने ठीक ही कहा है कि इस युग में विगत की आध्यात्मिक परंपराओं का सशक्त सातत्य दिखाई देता है। इस युग में महान् वेदान्ताचार्य, भक्ति आंदोलन के संत, महान् योगी, तांत्रिक, भाष्यकार एवं दार्शनिक हुए जिनके कारण विगत से इस काल की निरन्तरता बनी रही। मध्ययुगीन बोलियों एवं संस्कृत के साहित्य पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि विगत परम्पराओं के लक्ष्य एवं परिवेश के साथ इस युग की एकरूपता थी।

रामचरितमानस, **वेदान्तसूत्र** और **भागवत** की प्रधानता वाले मध्ययुग के इसी व्यावहारिक आध्यात्मिक सातत्य के कारण उन्नीसवीं शती में प्राचीन संस्कृति के आधार पर भारत में जागरण सम्भव हुआ। स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् तो यह और भी आवश्यक हो जाता है कि यह जागरण और अधिक गहन और व्यापक हो ताकि मानवता की जययात्रा में भारत अपना आध्यात्मिक लक्ष्य पूरा कर सके।

कर्म, ज्ञान और भक्ति आध्यात्मिक उपलब्धि के तीन साधन माने गए हैं। कर्म मूलतः स्वातंत्र्य की अभिव्यक्ति है किन्तु असत् के साथ सत् की भ्रांत एकरूपता के कारण संसार में जिसे कर्म कहते हैं, बंधन के सिवा कुछ अन्य नहीं है। शरीर एवं इंद्रियों जैसे नैसर्गिक उत्पाद्य निरन्तर परिवर्तन एवं गतिशीलता के अधीन होते हैं, और जब उन्हें आत्मा मान लिया जाता है तो मानव संकल्प कामनाओं और वासनाओं के अधीन होने के कारण परतंत्र हो जाता है। यह सत्य है कि ऐसी स्तिथि में भी स्वतंत्रता पूरी तरह नष्ट नहीं होती क्योंकि आत्मत्व का बोध ही मनोवैज्ञानिक-शारीरिक कार्यकलापों में एक प्रकार के स्वामित्व एवं स्वतंत्रता की प्रतीति तो देता ही है। इसी से उत्पन्न होता है कर्म और भोग का चक्र जिसे संसार कहते हैं। तथापि जब कर्म निष्काम भाव से, धार्मिक या लोकसंग्रह के रूप में, या स्वार्थ रहित होकर करुणा, परोपकार एवं प्रेम की उच्च भावनाओं से प्रेरित होकर किया जाता है तो वह चित्त को उसकी वासना के दूषण से शुद्ध कर देता है, और इसके प्रभाव में किए गए कार्य आत्मा की मुक्ति के

श्रेष्ठ साधन बन जाते हैं। निस्वार्थ और जिसमें कर्म के फल की इच्छा न हो, ऐसा कर्म ही यज्ञ का सार है। सच्ची भावना से की गई प्रत्येक प्रकार की समाजसेवा इस प्रकार के निस्वार्थ, निष्काम अथवा त्यागपूर्ण कर्म के अंतर्गत आती है।

प्राचीन समाज में धर्म की व्यवस्था निजी विकास एवं समाज सेवा के बीच सामंजस्य स्थापित करती थी। साधारण धर्म वे आदर्श गुण थे जिनका अनुसरण करने से व्यक्तित्व को निखारने के साथ ही अहं पर विजय पाने एवं परोपकारिता को भावना बढ़ाने में सहायता मिलती थी। आश्रमों में दायित्वों एवं उनके अनुकूल सेवा कार्य का निर्देश था। वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत सामाजिक सेवाओं को संगठित किया गया था जो सामूहिक जीवन का आधार था। कर्तव्य की अनिवार्यता सामाजिक कार्यकलापों का आदर्श थी न कि आधुनिक युग की भाँति व्यापारिक लेन-देन। तथापि, समय में परिवर्तन हो जाने पर भी त्याग एवं निष्काम कर्म के मूल आदर्श आज भी जीवनदर्शन के मूल सिद्धान्तों के रूप में प्रासंगिक है जैसा कि तिलक और अरबिंदो ने **गीता** की अपनी व्याख्याओं में दर्शाया है।

कविराज की ज्ञान सम्बन्धी संकल्पना की चर्चा हम पहले कर चुके है। आत्मविद्या अथवा ब्रह्मविद्या को ही ज्ञान की संज्ञा दी जा सकती है। जिसे सामान्यतः ज्ञान कहा जाता है वह विकल्प मात्र होता है जो भाषाओं और इन्द्रियों के भ्रामक प्रभाव के अधीन होता है। इसका सत्य संवृति एवं व्यवहार तक सीमित रहता है। सच्चा ज्ञान अप्रत्यक्ष रूप में आगमों से मिलता है किन्तु उसे प्राप्त करने के लिए समुचित तर्कबुद्धि एवं चिन्तन की आवश्यकता होती है। समाधि में विकल्पों का नाश करके भ्रान्ति को हटाने से ही शुद्ध सहजबोधात्मक ज्ञान, प्रज्ञा अथवा प्रतिभा उत्पन्न होती है।

भक्ति के मार्ग को तीन चरणों में विभाजित किया जा सकता है — प्रवर्तकावस्था, साधकावस्था और सिद्धावस्था। प्रथम दो अवस्थाओं में से प्रत्येक में, एक के पश्चात् एक, दो अवस्थाएँ देखी जा सकती हैं। प्रवर्तक अवस्था का पहला भाग नामसाधना का है। स्वैच्छिक संकल्प से नामजप वस्तुतः आरम्भिक अवस्था है, जो साधकभक्ति भी नहीं कही जा सकती क्योंकि साधकभक्ति तभी होती है जब नामजप की दीक्षा किसी सिद्ध गुरु ने दी हो और उसके परिणामस्वरूप स्वाभाविक शरीर शुद्ध होकर भावदेह बन जाता हो। सच्ची साधना भावदेह की प्राप्ति के पश्चात् ही आरम्भ होती है। नाम और मंत्र इस रूपान्तरण में सहायक होते हैं।

भक्ति ह्लादिनी शक्ति की विशेष प्रणाली है जिसका स्वरूप महाभाव का होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि भक्ति महाभाव के आविर्भाव के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। चूंकि महाभाव और ह्लादिनी शक्ति, दोनों ही, ईश्वर की स्वरूप शक्ति के क्षेत्र

की वस्तुएं हैं अतः भक्ति जीव के संकल्प का परिणाम नहीं हो सकती, वह ईश्वरीय अनुग्रह का ही प्रसाद हो सकती है। जीव प्रयास कर सकता है, किन्तु भाव के क्षेत्र में उसका प्रवेश ईश्वर की अनुकंपा से ही होता है। ईश्वर के प्रति मनुष्य का सच्चा प्रेम भी ईश्वर के प्रेम का एक अंश ही हो सकता है। यह स्पिनोज़ा की धारणा का स्मरण कराती है जिसके अनुसार ईश्वर के प्रति मनुष्य का बौद्धिक प्रेम उसी प्रेम का अंश है जिससे ईश्वर अपने आपको प्रेम करता है।

प्रवर्तकावस्था में उपासक और उपास्य दोनों का ही स्वरूप अस्पष्ट होता है। भावदेह की प्राप्ति हो जाने पर उपास्य तो स्पष्ट हो जाता है किन्तु उपासक अभी अस्पष्ट ही बना रहता है। निरन्तर भाव और खोज के पश्चात जब परमात्मा अपना स्वरूप प्रकट करता है तो भाव प्रेम में रूपान्तरित हो जाता है जिसका चरमोत्कर्ष होता है रस में, वही सिद्धावस्था है।

भावदेह वस्तुतः स्थायी भाव ही है जिसका रस में परिपाक होना सम्भव है। इसी स्थायी भाव की सहायता से भक्त रहस्यपूर्ण हृदय में प्रविष्ट हो सकता है जिसकी तुलना अष्टदल कमल से की गई है। महाभाव इस कमल का केन्द्र है।

पारम्परिक रूप से पराभक्ति के पाँच भाव सर्वविदित है, अर्थात् दास्य, शान्त, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। भक्ति का सर्वोच्च भाव माधुर्य, और वह भी, उसकी विरहावस्था माना जाता है। दोनों एक दूसरे की गोद विरह के भय से व्याकुल होकर रोते हैं।'

ऐसा प्रतीत हो सकता है कि भक्ति की साधना पूर्णरूपेण निजी है और इसमें सामाजिक महत्त्व का नितान्त अभाव है। किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है क्योंकि ईश्वर के प्रेम की कामना करने वाले व्यक्ति में उच्च नैतिक चरित्र एवं परोपकार की भावना का होना परमावश्यक है। इस तथ्य पर **गीता**, तुलसीदास के **रामचरितमानस** एवं मध्ययुगीन भक्त सन्तों की रचनाओं में समान रूप से बल दिया गया है। प्रेम एवं करुणा से पूर्ण हृदय के बिना कोई मनुष्य दिव्य प्रेम के मार्ग में आगे नहीं बढ़ सकता। सांसारिक वस्तुओं से वृत्तियां समेट लेने मात्र से हृदय संवेदन शून्य हो सकता है। निष्काम होने के साथ ही हृदय का संवेदनशील होना भी आवश्यक है। तभी व्यक्ति दिव्य प्रेम का अन्वेषण कर सकता है। ईश्वर से निजी सम्बन्ध स्थापित करने की धारणा में ही इस बात की आवश्यकता निहित है कि अन्य मनुष्यों के साथ भी उसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित किया जाए।

रस की संकल्पना एक प्रकार से संस्कृति का परम मूल्य है। कविता एवं नाटक के आचार्यों ने दर्शाया है कि रसानुभूति से न केवल सुखों की आंशिकता, क्षणिकता

एवं नकारात्मकता अपितु व्यथा पर भी विजय प्राप्त होती है। सुख और दुख एक ऐसी भावात्मक धारा के अंश में रूपान्तरित हो जाते हैं जिसमें प्रत्यक्ष अनुभव की तीव्रता एवं स्पष्टता होती है। यह सम्भव होता है शब्दों एवं प्रतीकों की भावात्मक भूमिका के माध्यम से जो हृदय के स्थायी भावों की अभिव्यक्ति के झरोखों की भाँति कार्य करते हैं। रसानुभूति कुछ अन्य नहीं अपितु अन्तःकरण के आह्लाद का प्रतिबिम्ब ही है। जब वह भावनात्मक रूप से द्रवित तो होता है किन्तु किसी मूर्त बिम्ब अथवा प्रतीक के चिन्तन में लीन रहता है। इसका चरमोत्कर्ष ईश्वर के लीलारस में कहा जा सकता है जो कुछ लोगों की मान्यता के अनुसार, नित्यवृन्दावन में मिलता है और उसका समय भी सामान्य समय से भिन्न होता है — उस समय को वहाँ किंकर प्राप्त करता है। अखंड महायोग जिस परम रूपान्तरण को लक्ष्य करता है, वही पृथ्वी पर इस स्वप्न को साकार करने में सहायक हो सकता है।

टिप्पणियाँ

अध्याय १

१. शचींद्रनाथ सान्याल प्रसिद्ध क्रांतिकारी थे। जब कविराज क्वींस कालेज में एम. ए. के विद्यार्थी थे तो शचींद्रनाथ उनके कनिष्ठ समकालीन थे। उनका **बंदी जीवन** उन दिनों के क्रांतिकारी जीवन की एक हृदयस्पर्शी रचना है।

२. उनका वास्तविक नाम शशिभूषण सान्याल था। वे श्री श्री रामकृष्ण परहंस के प्रिय भाजन थे जो उन्हें 'शशि' बुलाया करते थे और बाद में वे शिव राम किंकर योगत्रयानंद के नाम से विख्यात हुए। वे न केवल बहुज्ञ विद्वान थे अपितु अत्यंत उच्च कोटि के योगी भी थे। कविराज ने १९०४ में उनकी रचना **आर्यशास्त्रप्रदीप** पढ़ी और १८१०-१८१९ के बीच उनके निकट संपर्क में रहे। कविराज उनके बड़े प्रशंसक थे और उन्होंने योगत्रयानंद से सम्बन्धित अनेक चमत्कार-पूर्ण घटनाओं का विवरण अंकित किया है। कविराज मानते थे कि उनके जीवन को ढालने में योगत्रायानंद का प्रभाव सबसे महत्त्वपूर्ण रहा है। वे उन्हें एक ऐसा सिद्ध पुरुष मानते थे जिसने हबर्ट स्पेंसर से अधिक विस्तृत एवं गहन दार्शनिक संश्लेषण प्रतिपादित किया था।

३. श्री श्री विशुद्धानंद १९१७ से लेकर १९३७ तक कविराज के आध्यात्मिक गुरु रहे। १९३७ में उनकी मृत्यु हुई। कविराज ने पाँच खंडों में बांग्ला में अपने गुरु का जीवन चरित्र लिखा है।

विशुद्धानंद का जन्म बर्दवान जिले के बंधुल ग्राम में चट्टोपाध्याय परिवार में हुआ था। उनका जन्म का नाम भोलानाथ था। कहा जाता है कि बचपन में उन्हें पागल कुत्ते ने काट लिया था और एक संन्यासी ने उनके प्राणों की रक्षा की थी। बाद में वही सन्यासी उन्हें ढाका में मिला। उस सन्यासी का नाम था परमहंस नीमानंद जो उन्हें पहे विंध्याचल और बाद में तिब्बत के ज्ञानगंज आश्रम में ले गया। वहाँ महर्षि महातापस ने उन्हें दीक्षा दी। परमहंस ने उन्हें सूर्यविज्ञान और परमहंस भृगुराम ने स्यामानंद एवं योग की शिक्षा दी। अब भोलानाथ परमहंस विशुद्धानंद हो गए। वे चमत्कार दिखाने के लिए प्रसिद्ध थे। उनका सर्वाधिक प्रसिद्ध चमत्कार था आतिशी शीशे की सहायता से सूर्य किरणों को केंद्रित करके किसी भी वस्तु में किसी भी इच्छित सुगंध को उत्पन्न करना। वे 'गंध बाबा' के नाम से प्रसिद्ध हो गए थे। सूर्य किरणों की सहायता से वे अपने अतिथियों की इच्छानुसार किसी भी वस्तु को उत्पन्न कर देते थे। कविराज, अभय चरण सान्याल, जो केमिस्ट थे, जयपुर के प्रसिद्ध विद्वान मधुसूदन ओझा, पॉल ब्रंटन एवं अनेक लोगों ने इस चमत्कार को अपनी आंखों से देखा था। बाबा इसे सूर्यविज्ञान का चमत्कार बताते थे। उनका कहना था कि वस्तुओं को उत्पन्न करने में योग और सूर्य किरणें समान रूप से सक्षम हैं। समस्त प्राकृतिक वस्तुओं की रचना विभिन्न प्रकार की सूर्य किरणों को एक विशेष क्रम में संयोजित करके की जा सकती है। बाबा विशेष प्रकार के आतिशी शीशों का प्रयोग करते थे जो शीशे के न होकर स्फटिक के बने होते थे।

४. श्री श्री आनंदमयी माँ उत्तर भारत में इस शती की विख्यात साध्वी हुई हैं। कहा जाता है कि उन्हें जन्म से ही दिव्य ज्ञान प्राप्त था और वे अवतार मानी जाती थीं। उनसे कविराज की भेंट सर्वप्रथम १९२८ में हुई थी। उन्होंने ही कविराज के कैंसर की चिकित्सा का प्रबंध किया था और १९६८ में उनकी पत्नी की मृत्यु हो जाने के पश्चात् अपने भदैनी स्थित आश्रम में रखकर उनकी देखभाल की थी। कविराज का कहना था कि उनके गुरु विशुद्धानंद के पश्चात् माँ आनंदमयी ही उनकी सबसे बड़ी हितैषिणी थी।

५. तेरह वर्ष की अवस्था में कविराज का विवाह कुसुम कामिनी देवी के साथ हुआ था। उनके दो संतानें हुई हैं, एक पुत्री, सुधारानी, एवं एक पुत्र जितेंद्रनाथ। पुत्री का विवाह ढाका में हुआ था। किन्तु

विभाजन के बाद वह पश्चिम बंगाल आ गई थी। १९५० में पुत्र पत्नी और तीन बच्चों को छोड़कर दिवंगत हुआ। कविराज की पुत्रवधू भी पति के बाद अधिक दिनों तक जीवित न रही। उनकी दो पौत्रियां विवाहित हैं और पौत्र शशिशेखर सेवारत है।पुत्र की अकाल मृत्यु कविराज के लिए कठिन परीक्षा थी किन्तु उन्होंने बड़े धैर्य के साथ इसका समना किया।

६. कविराज को यात्रा करने का शौक नहीं था और सरकारी या शैक्षिक संस्थाओं द्वारा दिए गए बड़े-बड़े सम्मान लेने भी वे कदाचित् ही गए हों, किन्तु संत-महात्माओं के दर्शन करने अथवा किसी अतिसामान्य घटना का समाचार मिलने पर वे उसे देखने अवश्य जाते थे। संत-महात्माओं से वे गहन वाद-विवाद करते थे और उनके साथ हुई बातचीत एवं अपने अनुभवों का विस्तृत विवरण रखते थे।

अध्याय २

१. स्मरणीय है कि श्री शिवराम किंकर योगत्रयानंद से मिलने पर उनसे कविराज का सर्वप्रथम प्रश्न मुनियों के विविध मतों के सम्बन्ध में था। तब वे काशी में विद्यार्थी ही थे ('नासौ मुनिरर्यस्य मतम् न भिन्नम्')। स्वामी जी का उत्तर था कि मुनियों के मतों में भिन्नता होना स्वाभाविक है क्योंकि उनका सम्बन्ध मानसिक या बौद्धिक स्तर से होता है, किन्तु जिन सत्यों का वे साक्षात्कार करना चाहते हैं उन्हें केवल सहजबोध (गुहायाम्) के माध्यम से ही पाया जा सकता है — 'साधुदर्शन एवं सत्प्रसंग' (हिन्दी)' खंड ii, पृ. ५३ और आगे।

२. **प्रिंसेस ऑव वेल्स सरस्वती भवन स्टडीज्**, खंड i, (भाग १), पृ. २९.

३. वही, १ सी.

४. वही. पृ. ३०, पाद टिप्पणी, जिसमें **न्यायवार्तिक** का उल्लेख है।

५. देखिए, **भामती** (वाराणसी, १९३५), पृ. २. — 'नह्यागमाः सहस्रमपिघटं पटयितुम् ईशते।'

६. देखिए प्रसिद्ध सुभाषित 'परीक्ष्य मद् वचो ग्राह्यम् भिक्षवो न तु गौरवात्।'

७. एस. बी. एस., (i), पृ. ३१-३२.

८. वही, १.सी.

९. वही, पृ.३३.

१० कविराज उद्धरण देते हैं, 'न हि ते मुनयो भ्रांताः सर्वज्ञत्वात् तेषाम्। किन्तु बहिर्विषयप्रवणानाम् आपातः परमपुरुषार्थे, प्रवेशो न भवतीति नास्तिक्य निवारणाय तैः प्रकारभेदाः निरूपिताः।'

११. देखिए बोधिचित्तविवरणः —

देशानां लोकनाथानांसत्वाशयवशानुगाः।
भिद्यन्ते बहुधा लोक उपायैबहुभिः पुनः॥
गंभीरोत्तान भेदेन कच्छिछोभयलक्षणा।
भिन्नापि देशना भिन्ना शून्यताद्वलक्षणा॥'

१२. उदाहरणार्थ, **प्रत्यभिज्ञा हृदयसूत्र** ८ :

'तद् भूमिकाः सर्वदर्शनस्तितयः।'

देखिए, **आत्मतत्त्वविवेक** (चौखंबा, १९४०) पृ. ४४८ एवं आगे।

१३. एस. बी. एस. (i.) पृ. ३४.

१४. वही, १. सी.

१५. वही, पृ. ३४-३५.

१६. वही, पृ. ३६.

१७. वही, पृ. ४० और आगे।

१८. वही, पृ. ३९ पाद टिप्पणी।

१९. 'द प्रॉब्लम ऑव काज़ेलिटी':

सांख्य योग व्यू, **ऐस्पेक्ट्स ऑफ थॉट** में संग्रहित, पृ. ८८ और आगे।

२०. उनका कहना था कि परमहंस विशुद्धानंद इसका प्रदर्शन भी कर सकते थे।

२१. एच. नाकामुरा का जापानी भाषा में लिखा **हिस्टरी ऑफ द वेदान्त** चार खंडों में है। एक खंड का अनुवाद अंग्रेज़ी में हिस्टरी ऑफ द वेदान्त चार खंडों में है। एक खंड का अनुवाद अंग्रेज़ी में **हिस्टरी ऑफ द अर्ली वेदान्त** शीर्षक से हो चुका है। कविराज ने रत्नप्रभा सहित **शारीरक भाष्य** की भूमिका अच्युत ग्रंथमाला के लिए लिखी थी।

२२. **न्यायसूत्र** इत्यादि का फणिभूषण तर्कवागीश द्वारा अनुवाद एवं पांच खंडों में **न्यायदर्शन** शीर्षक से बांग्ला भाष्य।

२३. प्रस्तुत लेखक का **बौद्ध दर्शन के विकास का इतिहास**।

२४. कविराज की पूर्व उद्धृत भूमिका, पृ. ४८-४९.

२५. कविराज रमण महर्षि के विचारों में इसका संदर्भ देखते हैं, विशेष रूप से **रमण-गीता** में प्रतिबिंबित विचारों में।

२६. **नरहरि**, बोधसार, कविराज द्वारा उद्धृत **भारतीय संस्कृति और साधना**, खंड i, पृ. ८ : भक्त्यर्थ कल्पितम् द्वैत अद्वैतादपि सादरम।

२७. वान क्रेमर, डो ज़ी एवं अन्य लेखक सूफ़ीवाद पर वेदान्त के प्रभाव को स्वीकार करते हैं, किन्तु निकलसन, गिब एवं अन्य सूफीवाद पर नवप्लेटोवाद के प्रभाव वाली मान्यता का ही समर्थन करते हैं — कविराज, पूर्व उद्धृत, खंड i, पृ. १७. सच तो यह है कि नवप्लेटोवाद पर भी भारतीय प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता है। इस सम्बन्ध में स्मरणीय है कि पश्चिमी एशिया में अशोक ने धर्मप्रचारकों को भेजा था।

२८. **ऐस्पेक्ट्स ऑफ इंडियान थॉट**, पृ. १४५ एवं आगे।

अध्याय ३

१. भदैनी आश्रम वाराणसी में नवंबर १९४६ को लेखक के साथ हुए एक निजी वार्तालाप में।

२. इस विद्वान ने इस घटना से घटित होने के थोड़े समय पश्चात् ही लेखक को इसका विवरण दिया था। ये विद्वान अनेक वर्ष पूर्व विश्वविद्यालय की सेवा से मुक्त होकर जनजीवन से अलग हो गए थे, यहाँ उनका नाम देना उचित नहीं समझा गया।

३. गोपीनाथ कविराज, **भारतीय संस्कृति और साधना**, खंड i, पृ. ४४ एवं आगे; वही, पृ. ४५ और आगे; पृ. ४८३ और आगे।

४. द्रव्य के पाँच रूप हैं, अर्थात् स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय, और अर्थवत्त्व। इनमें से पहला रूप इंद्रियगम्य है। दूसरा केवल तार्किक निरूपण द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रकार, पहले तत्त्व की विशेषताएँ रूपाकार, दूसरे की स्नेह, तीसरे की ऊष्मा इत्यादि। ध्यान देने योग्य है कि उपर्युक्त विशेष गुण अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, आर्द्रता और गंध इन सामान्य तत्त्वों से ही उत्पन्न होते हैं और उन्हीं के विशिष्ट रूप हैं। संसार में विद्यमान प्रत्येक द्रव्य, यहाँ तक कि तत्त्व भी एक सुव्यवस्थित संकुल में इन्हीं सामान्य एवं विशिष्ट गुणों के संयोजन से अधिक कुछ नहीं है संस्थिति के नियम अत्यंत जटिल हैं किन्तु वे ही सम्पूर्ण ब्रह्मांड की गतिविधि का नियमन करते हैं। तत्त्वों का तीसरा या सूक्ष्म रूप है तन्मात्रा। अपने सामान्य एवं विशिष्ट गुणों सहित आणिवक तत्त्व उसी का एक रूप है। चौथा

रूप (अन्वय) गुण हैं जो परिणाम के स्वरूप के अनुगामी होते हैं। तत्त्व का पाँचवां रूप अर्थवत्त्व उस सीमा तक गुणों में सन्निहित रहता है जिस सीमा तक कि गुण सासंरिक अनुभव या स्वतंत्रता के लिए उपयोगी होते हैं।

(गोपीनाथ कविराज, **एस्पेक्ट्स ऑव इंडियन थॉट**, पृ. १२२)

यह भी कहना आवश्यक है क्योंकि द्रव्य के भी स्थूल एवं सूक्ष्म रूप गुणों के उन्हीं अन्वय तत्त्वों से बने होते हैं, अत: सांख्य योग एक तत्त्व का दूसरे तत्त्व में रूपातंरण को वैज्ञानिक रूप से सम्भव मानता है जिसे जात्यंतर परिणाम कहा जाता है।

५. **कथा**, १.१.२६.

६. **बृहदारण्यकोपनिषद्**, २.४.२.

७. कविराज, **भारतीय संस्कृति और साधना**, खंड I, 'ईश्वर में विश्वास'

८. रामानुज, **श्रीभाष्य ब्रह्मसूत्र**, १.१.३.

९. **शिवसूत्र** १.१३.

१०. कविराज, 'डॉक्ट्रिन ऑफ प्रतिभा इन इंडियन फ़िलॉसफ़ी', **अबोरी**, १९२३-२४.

अध्याय ४

१. **द कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानंद** खंड vii, पृ. ४२८.

२. कविराज, **ऐस्पेक्टस ऑफ इंडियन थॉट**, पृ. ११३.

३. वही, पृ. ११४.

३ए **याज्ञवल्क्य स्मृति**, १.१.८.

४. लेखक ने एक बार कविराज से पूछा कि क्या वे. जे. बी. प्रैट की इस धारणा से सहमत हैं कि एक बिन्दु पर चित्त एकाग्र करने पर बल देने वाली रहस्यात्मक साधनाओं को आत्म-सम्मोहन का अभ्यास कहा जा सकता है। कविराज का उत्तर था कि एकाग्रता अपने आप में योग नहीं होती है। धारणा निस्संदेह योग में सहायक होती है किन्तु ऐसा तभी होता है जब साधक का चित्त स्वभावत: एकाग्र हो (एकाग्र-भूमिका-चित्त), अन्यथा नहीं। कभीकभार किसी का भी चित्त एकाग्र हो सकता है किन्तु इससे वह योगी नहीं हो जाता। इसके अतिरिक्त किसी वस्तु पर ध्यान एकाग्र करना ही योग नहीं है अपितु योग तो ऐसी एकाग्रता है जिसमें पहले ही वस्तु से वियुक्ति हो जाती है और चित्त शून्यका साक्षी हो जाता है, इस प्रक्रिया को तब तक दोहराना होता है जब तक कि महाशून्य की प्राप्ति न हो जाए। उचित रूप से योग का आरंभ तभी होता है जब चित्कला के आविर्भाव के माध्यम से महाशून्य का भेदन हो जाता है।

५. **कठोपनिषद**, १-३

५. **भगवद्गीता**, ३.४२-४३.

७. कविराज, **ऐस्पेक्ट्स ऑफ इंडियन थॉट**, पृ. ११४-१५.

८. **योगसूत्र**, 'भावप्रत्यय विदेह-प्रकृतिलयानाम्, (१.१९)

९. कविराज, **ऐस्पेक्ट्स ऑफ इंडियन थॉट** में 'स्टेजेस ऑव योग'।

योग की पहली अवस्था जिसमें इंद्रियों को उनके विषयों से विरत किया जाता है वस्तुत: हठयोग के क्षेत्र की बात है 'जिसकी शिक्षा मार्कण्डेय ने प्राचीन काल में और मत्स्येंद्रनाथ एवं उनके शिष्यों (गोरख, जालंधर, चतुरंगी इत्यादि) ने मध्ययुग में दी।' इंद्रियों की बहिमुर्खता एवं सक्रियता वायु की क्रिया से उत्पन्न होती हैं जो कार्यरूप में वासना के समान होती है। 'जीव के संवेगों पर वायु या वासना

की क्रिया ही उसके सम्मुख भ्रम का संसार प्रक्षिप्त करती है।' योग की पहली अवस्था का अनुशासन इस भ्रम को मिटाता है, शरीर को संपूर्ण बनाता है और मन को दृढ़ एकाग्र और आगे योग के लिए सक्षम बनाता है। स्वास्थ्य, यौवन, इन्द्रियों पर नियंत्रण, शान्ति इस अवस्था के सामान्य परिणाम हैं यद्यपि प्राचीन ग्रंथों में इनसे कहीं अधिक लाभ मिलने की बात की गई है।

मानसिक साधना की दूसरी अवस्था के अतंर्गत संपूर्ण संप्रज्ञात योग आता है। यह जागृति की अवस्था है। जैसे जैसे सामान्य बाह्य संवेदन समाप्त होने लगते हैं चित्त अपने विषय के प्रति एकाग्रता एवं बोध की स्थिति में आने लगता है। 'चित्त का प्रकाशवान् तत्त्व, अपने विषय के आसन्न संपर्क में आने पर, संवेदन तो पहले समाप्त हो चुके हैं, उसे भेद जाता है और उसके स्वरूप एवं रूपाकार से ओतप्रोत हो उठता है। चित्त के पीछे स्थित आत्मा जो मानो उस वस्तु में ही परिवर्तित हो चुका होता है रूपान्तरण की इस संपूर्ण प्रक्रिया एवं उसके परिणाम की मौन साक्षी बनकर चमकता रहता है वह चित्त के अपार्थिक पर्यवक्षेप के रूप में देखता रहता है और चित्त बड़ी सीमा तक शुद्ध होकर संबद्ध वस्तु के रूप में प्रकट होता है।' इस अवस्था की मुख्य कठिनाई यही है कि 'यदि प्रकाशवान् चित्त के रूप को निर्धारित करने वाली कोई बाह्य वस्तु न हो और न ही पीछे छूटे हुए शरीर का कोई स्वानुभूत्यात्मक प्रभाव तो सामान्य परिस्थिति में चित्त आकारहीन/रूपहीन हो जाएगा जिसका परिणाम होगा एक अचेतन एवं अंधकारमय अस्तित्व। परम स्वतंत्र होने पर वह अपनी निजता हो नहीं बनाए रख सकेगा — सत्य तो यह है कि उसका कोई स्वरूप होगा ही नहीं। वह उस आदिम द्रव्य के भार के नीचे दब कर रह जाएगा जिससे वह एक तत्त्व के रूप में उत्पन्न हुआ था ताकि आध्यात्मिक मुक्ति कार्य में आत्मा का सहायक हो सके।' इस प्रहेलिका का समाधान प्रकाश के प्रातिभासिक शाश्वत रूप के आविर्भाव में निहित है जो सूक्ष्म शरीर के पीछे स्थिर रूप से स्थित होता है। इसे दिव्यदेह अथवा भावदेह कहा जाता है।

योगसूत्र पर अपने भाष्य में व्यास ने इस द्वितीयवास्था को क्रमशः चार अवस्थाओं में विभाजित किया है। ये हैं — (अ) प्रथम कल्पिका — वह अवस्था जब प्रकाश का आरंभ ही होता है — प्रवृत — मात्रज्योतिः। इस अवस्था में अधिसामान्य संवेदन बनता है। यहाँ साधक मात्र होते हुए भी योगी को अद्भुत परिघटनाओं को झलक मिलती है यथा भविष्य कथन, ध्वनियों का सुनाई देना, विगत एवं भावी घटनाओं और अतिप्राकृतिक शक्तियों का दिखाई देना इत्यादि। (ब) दूसरी अवस्था मधुमती भूमिका की है जिसका आरंभ होता है ऋतंभरा प्रज्ञा से। समाधि का वस्तुगत आधार तन्मात्रा से लेकर परम गुणों तक, उनका कोई भी स्थूल अथवा सूक्ष्म रूप हो सकता है। इस अवस्था में योगी की समाधि स्खलित हो जाने का भय रहता है। (स) तीसरी अवस्था प्रज्ञाज्योति की अवस्था है जिसमें तत्त्वों एवं इंद्रियों पर पूर्ण नियंत्रण रहता है। 'यह ऐसा नियंत्रण है जिससे वह (योगी) प्रकृति की सजृन, भरण एवं विनाश की शक्तियाँ पर नियंत्रण प्राप्त कर लेता है। 'पाँच मूल तत्त्वों पर विजय प्राप्त कर लेने से आठ महान् शक्तियाँ मिलती हैं, यथा अणिमा (इच्छानुसार सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप धारणा करने की शक्ति), महिमा (इच्छानुसार बड़े से बड़ा रूप धारण करने की शक्ति), लघिमा (इच्छानुसार हल्का रूप धारण करने की शक्ति), प्राप्ति (दूरी की बाधा के बिना किसी भी वस्तु या स्थान तक पहुँचने की शक्ति), प्राकाम्य (तत्त्वों के सामान्य गुणों का अतिक्रमण करने की शक्ति यथा धरती में इस प्रकार धंस सकना मानो वह जल हो।), वशित्व (तत्त्वों एवं उनसे उत्पन्न वस्तुओं पर नियंत्रण की शक्ति जो एक तत्त्व का दूसरे तत्त्व में परिवर्तन सम्भव करती है), ईशितृत्व (तत्त्वों पर पूर्ण नियंत्रण), यत्र कामावसायिता (इच्छा की सर्वोच्च क्षमता)।

पाँच अवस्थाओं (स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व) वाले तत्त्वों की भाँति ज्ञानेंद्रियों के भी पाँच रूप होते हैं — पहला ग्रहण, दूसरा करणत्व सामान्य, तीसरा अस्मिता में स्थित, चौथा और पांचवां भूत की भाँति अन्वय एवं अर्थवत्त्व में स्थित। तीसरी अवस्था में योगी ज्ञानेंद्रियों के इन पांच रूपों

पर भी विजय प्राप्त करके मनोजवित्व की भांति सिद्धियां प्राप्त कर सकता है।

(द) सर्वोच्च अवस्था, जिसे विशोका कहा जाता है, सर्वज्ञत्व एवं सर्वशक्तिमत्व प्रदान करती है। यह अवस्था ईश्वर की अवस्था जैसी होती है। किन्तु योगी जानता है कि ये शक्तियाँ उसके स्वभाव के प्रतिकूल हैं और विवेक ख्याति की ओर अग्रसर हो जाता है तथा विरक्ति के माध्यम से निरोध अथवा कैवल्य को प्राप्त करता है।

ध्यान देने योग्य है कि योग शक्तियाँ तभी प्रदान करता है जब साधक कामनाओं, वासनाओं, राग और अहंकार से मुक्ति पा लेता है। अतः इन शक्तियों तभी का प्रयोग किसी ध्येय विशेष की प्राप्ति के लिए करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता — हाँ, आरंभिक अवस्थाओं में ऐसा करने का लोभ उत्पन्न हो सकता है। आत्मा चरम एकांत के अपने ध्येय की ओर अग्रसर होता है जिसके मार्ग में दिव्य जगत् पड़ता है किन्तु वह उसके प्रति उदासीन ही रहता है।

१०. पृथ्वी के रूपान्तरण के लिए योगिक प्रयत्न द्वारा जिस अतिप्राकृतिक संसार की रचना की जाती है उसके ज्ञानगंज कहा जाता है। कुछ सीमा तक इसकी तुलना गोलोक अथवा सुखावतीव्यूह से की जा सकती है, यद्यपि उसका प्रकार्य और ध्येय कुछ और है।

११. कविराज साधक एवं योगी के बीच भेद करते हैं। साधक शुद्धिकरण एवं समाधि का प्रक्रिया द्वारा जन्म मरण से रहित अवस्था को प्राप्त करता है। योगी भी एक अतिप्राकृतिक शरीर की रचना करना चाहता है जो मृत्यु के पश्चात् योगिक क्रिया का आधार हो सके। योगी का मार्ग खंड अथवा अखंड हो सकता है। साधक का पथ भी खंडयोग अथवा महाखंड योग की भाँति न्यूनाधिक रूप से आंशिक हो सकता है। खंडयोगी चित्कला का अतिक्रमण करना चाहता है, जो कि साधक का लक्ष्य होती है, और उसके ऊपर स्थित धरातल को प्राप्त करना चाहता है। महाखंड योगी की दृष्टि इस धरातल के क्षितिज तक जाती है जहाँ माँ के सच्चे स्वरूप की झलक मिलती है। अखंड योग का लक्ष्य है संसार का परम सत्ता से सम्बन्ध स्थापित करना। यह ऐसा कार्य है जिसे अब तक पूर्ण रूप से संपन्न नहीं किया जा सका है।

(देखिए कविराज, तांत्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि)

अध्याय ५

१. कविराज, **तांत्रिक साहित्य**

२. तांत्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि में कविराज द्वारा उद्धृत प्रत्यभिज्ञा हृदय, इस पर टीका करते हुए क्षेमराज का कथन है — 'स्वतंत्रशब्दोब्रह्मवादवैलक्षण्यमाचंक्षश्चितो माहेश्वर्य-सरूपतां ब्रूते।'

३. **हिस्टरी ऑफ फ़िलॉसफ़ी, ईस्टर्न ऐंड वेस्टर्न** खंड i में कविराज का 'शाक्त फ़िलॉसफ़ी'

४. **शारदातिलक**, १.७-८

५. देखिए **कामकलाविलास**

६. पूर्व उद्धृत में कविराज द्वारा उद्धृत **प्रयोगकर्मदीपिका**

७. देखिए पंचदशी, 'वस्तुतंत्रं भवेद् ज्ञानम् कर्तृतंत्रमुपासनम्

अध्याय ६

१. कविराज, **भारतीय संस्कृति और साधना**

२. देखिए जी. सी. पांडे, मीनिंग ऐंड प्रोसेस ऑफ कल्चर, **ऐस्पेक्ट्स ऑफ इंडियन कल्चर ऐंड सिविलिजेशन**

३. कविराज, पूर्व उद्धृत

४. वही.

ग्रंथ-सूची

I

महामहोपाध्याय कविराज गोपीनाथ की प्रकाशित रचनाएँ (जिनमें पत्रिकाओं के लेख, संपादित ग्रंथ एवं ग्रंथों की भूमिकाएं सम्मिलित नहीं हैं)

(अ) अंग्रेज़ी

अ कैटेलॉग ऑफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स अक्वार्ड फ़ॉर द संस्कृत कॉलेज, बनारस ड्यूरिंग (१९१८-१९) इलाहाबाद.

अ डिस्क्रिप्टिव कैटेलॉग ऑफ मीमांसा मैन्युस्क्रिप्ट्स इन द संस्कृत कॉलेज, बनारस विद इंट्रोडक्शन, १९२३. इलाहाबाद.

हिस्टरी ऐंड बिब्लियोग्रफ़ी ऑफ न्याय वैशेषिक लिटरेचर, कलकत्ता, १९६१.

ऐस्पेक्ट्स ऑफ इंडियन थॉट. बर्दवान. १९६६.

नोट्स ऑन रिलिजन ऐंड फ़िलॉसफ़ी (एडिटेड बाय गौरीनाथ शास्त्री). वाराणासी, १९८७.

(ब) हिन्दी

भारतीय संस्कृति और साधना, २ खंड, पटना, १९६३-६४.

तांत्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि, पटना, १९६३

तांत्रिक साहित्य, विवरणात्मक ग्रंथ सूची, लखनऊ, १९७२.

काशी की सारस्वत साधना, पटना, १९६५.

अखंड महायोग का पथ और मृत्यु विज्ञान, बांग्ला से अनूदित, पटना, १९८४.

(स) बांग्ला

श्री श्री विशुद्धानंद प्रसंग, ५ खंड, वाराणसी.

अखंड महायोग, कलकत्ता, १९४८.

साधुदर्शन ओ सत्प्रसंग, २ खंड, कलकत्ता, १९६२,६३.

तंत्र ओ आगम शास्त्रेर दिग्दर्शन, संस्कृत कालेज, कलकत्ता, १९६२.

भारतीय साधनार धारा, संस्कृत कालेज, कलकत्ता, १९६५.

तांत्रिक साधना ओ सिद्धान्त , २ खंड, बर्दवान विश्वविद्यालय

श्री कृष्ण प्रसंग, वाराणसी, १९६७.

साहित्य चिंता, कलकत्ता, १९६६.

पत्रावली, कलकत्ता, १९६९.

स्वात्मसंवेदन, २ खंड.

पूजा, कलकत्ता, १९५५.

विजिज्ञासा, सं. गोविन्द गोपाल मुकर्जी.

II

गोपीनाथ कविराज पर रचित ग्रंथ

चक्रवर्ती, एच. एन. (सं.) : **महोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ग्रंथपञ्जी**, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९८२.

— **महामनीषी एम. एम. गोपीनाथ कविराज**, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९८२.

सिंह, भगवती प्रसाद : **मनीषी की लोकयात्रा** (दूसरा संस्करण), वाराणसी, १९८०.

सिंह, पद्मभूषण ठाकुर जयदेव : **अर्चास्मृति महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज**, वाराणसी, १९८६.

सक्सेना बी. आर. : **कविराज अभिनंदन ग्रंथ**, लखनऊ, १९६७. एस. एन. मिश्र (सं.) : **स्मारिका**, १९८६.

नवोन्मेष महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज स्मृति ग्रंथ, वाराणसी, १९८७.

पारिभाषिक शब्दों की अनुक्रमणिका

अखंड महायोग ६४

अ-क-थ ८०

अध्यात्मविद्या १८

अज्ञान, क्लिष्ट और अक्लिष्ट ६४

असत्कार्यवाद २३

आन्वीक्षिकी १८

अधिकार भेद २१, ९७

बिन्दु ७९

भावदेह ९३

भक्ति ९२

बीज ७९

हार्दकला ८०

कला ८०

क्षण २७, ६८

कुंडलिनी ८०

कर्म २७

महामाया ७८

महाकरुणा ५२

मंत्र ८१

मातृका ८१

मध्यमा ४५

नाद ४५, ८१

प्रकृति २६

प्राण ६८

परा ४५

पश्यन्ती ४५

प्रकाश ३६

प्रज्ञा ६३

रस ९४

शुद्धाध्वा ८३

संवित् ७६

सुषुम्ना ८१

सत्कार्यवाद २६

वैखरी ४६

विमर्श ३६

विशुद्धसत्व ५०

योग ५८, ९९-१००

गोपीनाथ कविराज (1887-1976), जिन्हें 1934 में ब्रिटिश सरकार ने महामहोपाध्याय की उपाधि से सम्मानित किया था, भारत-विद्या के आधिकारिक विद्वान थे। हिन्दी, अंग्रेज़ी, बाङ्ला और संस्कृत भाषाओं पर उनका समान अधिकार था। उनकी वाग्मिता और मनीषा में पारम्परिक एवं आधुनिक, भारतीय एवं पाश्चात्य, ज्ञान एवं आध्यात्मिक चिंतन का मणिकांचन योग देखने को मिलता है। वे पुनर्जागरण काल के उन स्तंभों में थे जो उपनिवेशी शासन के परिणामस्वरूप होने वाले भारतीय परम्परा के विघटन के बीच भारत के गौरव-पूर्ण अतीत को पुनरुज्जीवित करने और उसे ब्रिटिश उदारवाद की सर्वोत्तम परम्परा से जोड़ने में सहायक हुए।

महामहोपाध्याय में ज्ञान की अनन्त पिपासा के साथ ही खुली विश्लेषणात्मक मेधा भी थी जिसने उन्हें प्राचीन संस्कृत ग्रंथों एवं उनकी विभिन्न टीकाओं से भारतीय दृष्टि के सम्यक् मूल्यांकन तथा कुछ नया खोज निकालने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने भारतीय तंत्र, दर्शन, धर्म या संस्कृति पर जो ग्रंथ लिखे, उनमें उनकी गहन अंतर्दृष्टि और आस्था दिखाई देती है। उनके द्वारा प्रस्तुत संतों एवं आचार्यों की जीवनियों का कथ्य धार्मिक एवं दार्शनिक होते हुए भी उनका एक समर्पित और सर्जक साहित्यकार का रूप प्रस्तुत करता है।

प्रस्तुत विनिबंध में कविराज के महत्त्वपूर्ण विचारों को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखने और उनकी समसामयिक प्रासंगिकता को दर्शाने का प्रयास किया गया है। इसके लेखक ***प्रो. गोविन्दचन्द्र पांडे*** (जन्म 1923) ने 1947 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में व्याख्याता के रूप में अध्यापन आरंभ किया। वे गोरखपुर विश्वविद्यालय में प्राचीन इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व के आचार्य (1957-62), राजस्थान विश्वविद्यालय में टैगोर प्रोफ़ेसर (1962-78) और वाराणसी विश्वविद्यालय में विज़िटिंग प्रोफ़ेसर (1984-85) रहे। इलाहाबाद विश्व-विद्यालय से 1984 में कुलपति के दायित्व से सेवानिवृत्त होकर अब आप पूरी तरह साहित्य-सेवा में जुटे हैं। *विद्यावारिधि, संस्थान सम्मान* एवं *शंकराचार्य पुरस्कार* से सम्मानित एवं विद्वतापूर्ण शोधपत्रों के प्रणेता प्रो. पांडे अनेक ग्रंथों के लेखक हैं।

पन्द्रह रुपये